जवाहर-विचारसार

[पूज्य श्री जवाहरलालजी म. के जीवन का द्वितीय भाग]

सम्पादकः—

शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ.

प्रकाशकः—

श्री श्वे. सा. जैन-हितकारिणी संस्था,

बीकानेर।

म संस्करण
१२००

विक्रम संवत्
२००४

मूल्य
राज संस्करण
साधारण संस्करण

प्रकाशक :—
चम्पालाल बांठिया, मंत्री,
श्रीजवाहरजीवनचरित प्रकाशन-समिति,
श्री श्वे. सा. जैनहितकारिणी संस्था, बीकानेर.

प्रथम बार १२०० प्रति।

मुद्रक :—
श्री गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस,
ब्यावर।

विषयानुक्रम ।

दो शब्द

जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यान-साहित्य में से अब तक लगभग ५० पुस्तकें संगृहीत होकर प्रकाशित हो चुकी हैं। इस विपुल साहित्य में से सूत्र रूप विचारों का चयन करना श्रम-साध्य कार्य है। लेकिन पूज्य श्री के जीवनचरित के साथ उनके उपदेशों का होना आवश्यक था। अतएव जीवनचरित के दूसरे भाग के रूप में यह 'जवाहर-विचारसार' प्रस्तुत किया गया है।

आशा है, पूज्य श्री के आन्तरिक-जीवन को समझने में और पाठकों के जीवन के विकास में यह सार-संग्रह उपयोगी सिद्ध होगा।

जैन गुरुकुल, ब्यावर.
आषाढी पूर्णिमा, २००५

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

जवाहर-विचारसार

अगर आत्मा की सत्ता है तो आत्मा का कभी नाश नहीं हो सकता। जैसे सर्वथा असत् की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार सत् का सर्वथा विनाश भी नहीं होता। जो है ह सदैव रहता है और जो नहीं है वह कभी उत्पन्न नहीं होता। जिसे हम उत्पत्ति और विनाश समझते हैं वह वास्तव में वस्तु की अवस्थाओं का परिवर्त्तन मात्र है। वस्तु एक अवस्था त्यागती है और दूसरी अवस्था धारण करती है। दोनों अवस्थाओं में मूल वस्तु की सत्ता विद्यमान रहती है। इससे यह साबित है कि किसी भी वस्तु का मूल स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता। आधुनिक विज्ञान और हमारा अनुभव इस सत्य की साक्षी देता है।

१

आध्यात्मिक विचार

आत्मा का अस्तित्व

कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि आत्मा का, शरीर से पृथक् अस्तित्व नहीं है। शरीर पाँच भूतों से बना हुआ है और जब भूत बिखर जाते हैं तब शरीर बेकार हो जाता है। शरीर के स्वामी के रूप में आत्मा का अस्तित्व नहीं है। यह कथन एक प्रकार के अज्ञान का परिणाम है। यद्यपि इस प्रकार की विचार-धारा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती है, तथापि आधुनिक युग में उसे जितना पोषण और विस्तार प्राप्त हुआ, उतना पहले प्राप्त नहीं था। आज जड़-विज्ञान असुर की भाँति बढ़ता जाता है और इस कारण जड़ की महिमा व्यापक होती जाती है। सम्यग्ज्ञान का उदय होने पर जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम सहसा नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार यह अज्ञान भी किसी दिन हटेगा और तब आत्मा को पहचानने का प्रयत्न किया जायगा।

अंधेरे में, रस्सी में साँप का भ्रम तभी हो सकता है, जब साँप का अस्तित्व है। साँप का अस्तित्व न होता तो इस प्रकार का भ्रम संभव ही नहीं था। जिसने जल देखा है वही मृग-तृष्णा में जल की कल्पना कर सकता है। वास्तविक जल का अस्तित्व न होता तो मृग-तृष्णा में जल का आरोप कैसे संभव था? इस नियम के अनुसार शरीर में आत्मा संबंधी भ्रम आत्मा के अस्तित्व का ही परिचायक है।

'आत्मा नहीं है' इस प्रकार का कथन भी आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। अगर आत्मा न हो तो उसका नाम क्यों है? और उसके अस्तित्व से इंकार करने का आधार क्या है?

आत्मा का अस्तित्व समझने के लिए एक प्रमाण यह है कि संसार में जितने भी समासहीन और असांकेतिक शब्द हैं उन शब्दों का वाच्य पदार्थ विधिरूप अवश्य होता है। जिन शब्दों में समास है, उनका वाच्य पदार्थ नहीं भी हो सकता है। इसी प्रकार सांकेतिक 'डित्थ' जैसे शब्दों का अर्थ, नहीं भी हो सकता है। 'शशश्रृङ्ग' यह सामासिक शब्द है। अगर इन दोनों शब्दों को अलग-अलग कर दिया जाय तो शश अर्थात् खरगोश है और श्रृङ्ग अर्थात् सींग भी है। इस प्रकार जो शब्द समासरहित होते हैं उनका वाच्य अवश्य होता है। इस नियम के अनुसार आत्मा का अस्तित्व भी स्वीकार करने योग्य है। संसार में हाथी, घोड़ा, रथ, घट, पट आदि असामासिक शब्दों के वाच्य पदार्थ हैं तब अकेले 'आत्मा' शब्द का वाच्य पदार्थ क्यों नहीं है?

बहिर्मुखी बुद्धि से आत्मा का ज्ञान नही होगा

आज सर्वसाधारण की बुद्धि बहिर्मुखी हो गई है। बुद्धि दृश्यमान भौतिक-पदार्थों को पकड़ने दौड़ रही है। मगर बुद्धि की यह दौड़ आत्मा की परछाई तक नहीं पा सकती। आत्मा की शोध बुद्धि की सामर्थ्य से परे है। यही नहीं, बल्कि बुद्धि के द्वारा आत्मा का कल्याण भी होना संभव नहीं है।

पाश्चात्य लोगों ने बुद्धि द्वारा बाह्य-भौतिक पदार्थों का खूब विकास किया है।

रेडियो की बदौलत अमेरिका में गाया हुआ गीत भारत में बैठे-बैठे सुन सकना क्या छोटी बात है ? इस प्रकार बाह्य-पदार्थों की शोध में और उनका विकास करने में बुद्धि का उपयोग करने के कारण बुद्धि बहिर्मुखी हो गई है। और बहिर्मुखी बुद्धि वाले आत्मा की खोज नहीं कर सकते। यही नहीं, कुछ लोग तो बहिर्मुखी बुद्धि के प्रभाव से प्रभावित होकर यहाँ तक कहने का साहस करते हैं कि आत्मा कोई चीज़ ही नहीं! ऐसे लोग, बुद्धि के द्वारा भौतिक पदार्थों के सान्निध्य में इतने अधिक आ गये हैं कि उनकी दृष्टिमें भौतिक पदार्थों के सिवाय कोई वस्तु ही नहीं है। यह भ्रम इसी कारण उत्पन्न हुआ है बुद्धि बहिर्मुखी हो गई है। यदि बुद्धि को बहिर्मुखी न बनाकर अन्तर्मुख बनाया जाय तो वही बुद्धि आत्मोन्मुख बन सकती है। बुद्धि को अन्तर्मुखी बनाने वाले महात्मा आज भी भारतवर्ष में मौजूद हैं। ऐसे महात्मा मौजूद न होते तो जगत् में प्रलय न मच जाता? प्राचीन काल के महात्माओं ने बुद्धि को भौतिक पदार्थों से विमुख रखकर अन्तर्मुख बनाया था। उन्होंने कहा था—इन दृश्यमान बाह्य पदार्थों में ही विश्व की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। इन भौतिक पदार्थों से परे एक वस्तु और भी विश्व में विद्यमान है। और वह आत्मा है। वह आत्मा शाश्वत है—सनातन है।

अगम्य आत्मा

उदयपुर में एक वकील महाशय के साथ मेरा वार्त्तालाप हुआ। वकील महाशय प्रत्यक्षवादी थे। वह आत्मा को प्रत्यक्ष दिखाने के लिए कहते थे।

मैंने उनसे पूछा—'आप अंग्रेजी पढ़े हैं ?'

वकील बोले—'जी हाँ।'

मैंने कहा—आप अपने मस्तिष्क में से अंग्रेजी निकालकर दिखाइए तो सही वह कैसी है ?'

वकील निरुत्तर रहे। मैंने उनसे कहा—'जब आप अपने मस्तिष्क में से अंग्रेजी निकालकर नहीं बता सकते। तो फिर अमूर्त्त आत्मा को किस प्रकार बताया जा सकता है ?'

आत्मा के संबंध में शास्त्र में कहा है—

तक्का तत्थ विज्जई, मई तत्थ न गाहिया।

अर्थात् आत्मा इतना सूक्ष्म है कि उसमें तर्क का प्रवेश नहीं हो सकता और बुद्धि भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकती। आत्मा के बुद्धिगम्य न होने के कारण ही उसके विषय में 'नेति नेति' कहा जाता है।

वास्तव में जो वस्तु पूर्ण है उसका वर्णन होना संभव नहीं है। आत्मा का जो वर्णन हमें उपलब्ध होता है वह भी अपूर्ण ही है। तिजोरी भारी-भरकम चीज़ है और चाबी उसके सामने नहीं के बराबर छोटी-सी वस्तु है। फिर भी छोटी-सी चाबी से तिजोरी खोली जा सकती है और भीतर रखा हुआ धन निकाला जा सकता है।

इसी प्रकार शास्त्र में आत्मा रूपी तिजोरी की चाबी के रूप में थोड़ा-सा जो वर्णन मिलता है उसी से आत्मा-तिजोरी को खोलो। उससे पता चलेगा कि आत्मा कैसा है और किन किन अद्‌भुत शक्तियों से सम्पन्न है।

आत्मा क्या है ?

आत्मा क्या है और कैसा है ? इस विषय में कहा जाता है कि आत्मा कान का भी कान है, आँख का भी आँख है, रस का भी रस है। इस प्रकार इन्द्रियों को शक्ति देने वाला इन्द्रियों का अधिपति आत्मा है। आत्मा अमर है। अमर होने पर भी उसके अस्तित्व पर विश्वास नहीं किया जाता यही भयंकर भूल है। इसी भूल के कारण ज्ञानियों को चिन्ता होती है। अगर कोई पुरुष हीरे को पत्थर का टुकड़ा कहे तो जौहरी को चिन्ता होना स्वाभाविक है।

ज्ञानियों ने आत्मा का साक्षात्कार करके कहा है कि आत्मा निर्मल है, नीरज है, अखण्ड है। वह परम उज्ज्वल है और ज्योति रूप है। विश्व की समस्त ज्योतियाँ आत्मा के सामने धुंधली हैं। तुम्हें जो प्रकाश दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब आत्मा के प्रकाश के कारण ही प्रकाशित है। आत्मिक प्रकाश से अन्य प्रकाश देखे जा सकते हैं। ऐसी आत्मा की ज्योति है।

आत्मा

दिया लेकर सूर्य को देखने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि सूर्य स्वयं प्रकाशमान है। इसी प्रकार आत्मा भी स्वयं प्रकाशित है। सूर्य स्वयं प्रकाशमान होने के कारण ही सूर्य कहलाता है। अगर वह स्वयं प्रकाशमान न हो तो उसे कौन सूर्य कहेगा ? पर आत्मा तो सूर्य की अपेक्षा अनन्तगुना प्रकाश वाला है। सूर्य को सूर्य कहने वाला कौन है ? सूर्य अस्त हो गया है, उदित हो गया है या मेघों से आच्छादित हो गया है, इस प्रकार जानने वाला कौन है ? इस प्रकार सूर्य का मूल्य आँकने वाला और सूर्य को सूर्य कहने वाला आत्मा ही है। इस कारण मैं कहता हूँ—आत्मा सूर्य से अनन्तगुना प्रकाशमय है। तुम उस आत्मा को पहचानो तो परमात्मा को पहचानने में विलम्ब नहीं लगेगा।

आत्मा की पहचान

जो मनुष्य घड़ी को देखकर उसके कारीगर को नहीं पहचानता वह मूर्ख गिना जाता है। इसी प्रकार जो शरीर को धारण करके इसमें विराजमान आत्मा को नहीं पहचानता और न पहचानने का प्रयत्न करता है उसकी समस्त विद्या अविद्या है। उसके सब काम खटपट रूप हैं।

आत्मा का स्वरूप

जड़ को जड़ कहने वाला आत्मा है। आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करने वाला

आत्मा है। नाना प्रकार की अभिलाषा करने वाला आत्मा है। यही नहीं, वरन् जो आत्मा का निषेध करते हैं वे स्वयं ही आत्मा हैं, पर वे इस तथ्य को जानते नहीं हैं। पदार्थों को अपने आपका ज्ञान नहीं होता, इन सबको जानने वाला आत्मा है। आत्मा द्रष्टा है, पदार्थ दृश्य हैं। आत्मा ज्ञाता है, पदार्थ ज्ञेय हैं।

संसार के समस्त सुधारों और कुधारों का आदि स्रोत आत्मा ही है। आत्मा अज्ञान के कारण अपने सुधार में अपनी शक्ति का सदुपयोग नहीं करता वरन् अपने-आपको गिराने में अपने बल को व्यय करता है। आज जो लड़ाई-झगड़ा, क्लेश कदाग्रह और वर्गविग्रह आदि अवांछनीय प्रवृत्तियाँ फैली हैं, उनका मूल आत्मिक अज्ञान है। लोग क्रिया से मुँह मोड़कर पुरुषार्थ-हीन बन रहे हैं। स्वयं परिश्रम न करके दूसरों के परिश्रम पर गुलछर्रे उड़ाना चाहते हैं। यही लड़ाई-झगड़े का बीज है। पर यह बीज भी कहाँ से आया है? आत्मा सम्बन्धी अज्ञान से। आत्मा अज्ञान के कारण भूल में पड़ा है और इसी से विषमता उत्पन्न होती है। आध्यात्मिकता की भावना के अभाव का यह अवश्यम्भावी परिणाम है।

पर क्या अतीत की भूल को वर्तमान में दुहराना ही होगा? क्या यह भूल सुधारी नहीं जा सकती? सुबह का भटका शाम को घर आ जाय तो वह भूला नहीं कहलाता। आध्यात्मिकता के भाव का उदय होने पर संसार नरक से स्वर्ग बन सकता है। हे संसार के मनुष्यो! इस ओर क्यों तुम्हारा लक्ष्य नहीं जाता?

आजकल के बहुत से लोग आध्यात्मिकता उसे समझते हैं जो समझ में न आवे। अर्थात् जो बात समझी न जा सके वही आध्यात्मिकता है। एक बार किसी विश्वविद्यालय के छात्र ने अपने प्रोफेसर से पूछा—आध्यात्मिकता क्या वस्तु है? प्रोफेसर साहब ने उत्तर दिया—'मोहन और सोहन बातचीत कर रहे हों। उसमें मोहन की बात सोहन न समझे और सोहन की बात मोहन की समझ में न आवे, बस, यही आध्यात्मिकता है।' इस प्रकार समझ में न आने वाली बात को अध्यात्मवाद कहा जाता है। पर यह भूल है। अध्यात्मवाद बहुत सरल है। वह सभी की समझ में आ सकता है। अपने-आपको समझना ही अध्यात्मवाद की सीधी-सादी व्याख्या है। जो अपने को नहीं समझता वह दूसरों को क्या खाक समझेगा?

आध्यात्मिकवाद और भौतिकवाद का पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य है परन्तु भौतिकवाद ध्येय नहीं बन जाना चाहिए। भौतिकवाद को ध्येय बनाने से ही यह सब अव्यवस्था जगत् में फैली है। भौतिकवाद को समझने पर ही अध्यात्मवाद को और अध्यात्मवाद को समझ लेने पर भौतिकवाद को पूरी तरह समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ शरीर को लीजिए। शरीर के द्वारा ही आत्मा को समझा जा सकता है। शरीर के बिना आत्मा को समझना सरल नहीं है। इस प्रकार भौतिकवाद आध्यात्मिकवाद का परिचायक है, फिर भी भौतिकवाद को ही पकड़ कर बैठ जाना उचित नहीं है। अध्यात्मवाद के आधार पर भौतिकवाद टिका हुआ है और भौतिकवाद के

आधार पर आध्यात्मिकवाद की दीवाल खड़ी है। सूक्ष्म के आधार पर स्थूल और स्थूल के आधार पर सूक्ष्म है।

जो देखा जा सकता है, जिसमें रूप, रंग, परिमाण, गुरुत्व आदि पाये जाते हैं वह स्थूल कहलाता है। जो दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसमें रूप आदि नहीं पाये जाते वह सूक्ष्म है। संसार इन दोनों में से किसके आधार पर टिका हुआ है? इसका निर्णय करने के लिए अपने शरीर को ही देखो। शरीर के दो भाग हैं। एक स्थूल भाग है, दूसरा सूक्ष्म भाग है। रक्त, मांस आदि दृष्टिगोचर भाग स्थूल है और श्वास—जो दृष्टिगत नहीं होता, सूक्ष्म भाग है। अब देखो कि शरीर स्थूल के आधार पर टिका है या सूक्ष्म के आधार पर? श्वास के आधार पर रक्त-मांस आदि हैं या रक्त-मांस आदि के आधार पर श्वास है? तुम्हें यह भलीभाँति ज्ञात है कि—

जीव ने श्वास तणी सगाई,
घर में घड़ी न राखे भाई।

जब तक शरीर में श्वास है तभी तक भाई-बंध उसे घर में रहने देते हैं। श्वास बन्द होते ही कुटुम्बी जन उसे जल्दी-से-जल्दी बाहर निकालने के लिए उद्यत हो जाते हैं और निकाल भी देते हैं। इस प्रकार संसार में श्वास के साथ ही सब सगाई है—सम्बन्ध हैं और श्वास सूक्ष्म है।

शास्त्र श्वास को सूक्ष्म कहकर ही नहीं रुक जाता, परन्तु उसके अनुसार श्वास भी स्वतंत्र नहीं है। श्वास प्राण है सो किसी प्राणी का है। अतएव यह देखना आवश्यक है कि श्वास-प्राण को धारण करने वाला प्राणी कौन है? श्वास प्राण को शक्ति देने वाला प्राणी कौन है? लोग कहते हैं—मैं चाहूँ तो श्वास जल्दी से जल्दी ले सकता हूँ, चाहूँ तो धीरे से धीरे ले सकता हूँ। इस प्रकार श्वास को जल्दी लेने वाला, धीरे लेने वाला और किसी हद तक रोकने वाला कौन है? श्वास में जिसकी शक्ति है, जो जल्दी-जल्दी श्वास ले सकता है, जो श्वास को रोक सकता है वही आत्मा है और वह श्वास से भी सूक्ष्म है। वह दृष्टिगोचर नहीं होता। अगर वह दृष्टिगोचर होता—इन्द्रियग्राह्य होता—तो नाशवान् हो जाता। जो दीख पड़ता है वह नाशवान् होता है। इस स्पष्टीकरण से तुम यह विश्वास करो कि आत्मा की उपस्थिति में ही यह सब खेल है—सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व पर ही शरीर टिका हुआ है। आत्मा के अभाव में स्थूल शरीर टिक नहीं सकता, वह नष्ट हो जाता है। आत्मा की मौजूदगी में तो यह शरीर सौ वर्ष टिका रह सकता है, पर आत्मा के अभाव में कुछ दिनों तक भी नहीं टिकता। यह शरीर जिसका कार्य है, उस कारणभूत आत्मा को देखो और यह मानो कि सूक्ष्म और स्थूल दोनों की आवश्यकता है, पर हमारा ध्येय स्थूल की नहीं वरन् सूक्ष्म की उपलब्धि करना ही है। क्योंकि स्थूल के आधार पर सूक्ष्म नहीं किन्तु सूक्ष्म के आधार पर स्थूल है। इस प्रकार अध्यात्मवाद को समझना कुछ कठिन नहीं है।

जिस आत्मा के सहारे संसार का व्यवहार चल रहा है, उस आत्मा को पहचा-

नना ही उत्तम अर्थ है। यह जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है। जीवन की चरम सफलता इसी में है। जो इन्द्रियों के मोह में पड़ जाता है वह आत्मा को भूल जाता है। वह उत्तम अर्थ को नष्ट करता है। ऐसे व्यक्ति के लिए कहा जाता है—गये कमाने और गँवा आये मूल पूँजी भी। करने गये सीधा और हो गया उल्टा! ऐसा करना विपरीत कृत्य है। विपरीत कृत्य करना उत्तमार्थ को नष्ट करना है।

आध्यात्मिक शक्ति

आध्यात्मिकता कोई साधारण वस्तु नहीं है। गीता में आध्यात्मिकता को सब विद्याओं में प्रथम स्थान दिया गया है। जहाँ दूसरे के कल्याण के लिए छोटी-सी वस्तु का भी त्याग नहीं किया जा सकता वहाँ भला आध्यात्मिकता कैसे निभ सकती है? जहाँ लोभ दशा है वहाँ आध्यात्मिकता को स्थान नहीं मिल सकता। आध्यात्मिकता का स्थान वहीं है जहाँ परकल्याण के लिए प्राणों का उत्सर्ग करने में भी आनाकानी नहीं होती। राजा मेघरथ ने कबूतर की रक्षा के लिए शरीर-त्याग किया था। क्या उसमें आध्यात्मिकता नहीं थी? निस्संदेह मेघरथ में आध्यात्मिकता थी और इसी कारण उसने पर-कल्याण के लिए शरीर का त्याग किया था। उसे भलीभाँति ज्ञात था कि परोपकार के लिए आत्म-समर्पण करना ही सच्ची आध्यात्मिकता है। इससे यह स्पष्ट है कि जो अध्यात्म-निष्ठ होता है वह दूसरों के हित में अपना हित मानता है।

आत्मा का अनेकत्व

कुछ विचारकों का ऐसा मन्तव्य है कि आत्मा एक ही है। एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। जैसे पानी से भरे हुए हजारों घड़ों में एक ही चन्द्रमा दृष्टिगोचर होता है इसी प्रकार विभिन्न शरीरों में एक ही आत्मा प्रतिबिम्बित हो रहा है। यह विचार वास्तव में यथार्थ नहीं है। उदाहरण में यह बतलाया गया है कि एक ही चन्द्रमा हजारों घड़ों में प्रतिबिम्बित होता है, सो तो ठीक है। किन्तु चन्द्रमा यदि पूर्णिमा का होगा तो सभी घड़ों में पूर्णिमा का ही दिखाई देगा। अगर अष्टमी का हुआ तो सभी में अष्टमी का दृष्टिगोचर होगा। एक ही चन्द्रमा किसी घर में पूर्णिमा का, किसी में अष्टमी का और किसी में द्वितीया का दिखाई नहीं दे सकता। इसी प्रकार अगर एक ही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है तो सर्वत्र एकरूपता दृष्टिगोचर होनी चाहिए। मगर ऐसा नहीं होता। हमें सर्वत्र विभिन्न-रूपता ही दीख पड़ती है। कोई बुद्धिमान् होता है, कोई निर्बुद्धि, कोई दुखी होता है तो कोई सुखी है। इस प्रकार विचार करने से आत्मा का अनेकत्व प्रमाणित होता है।

आत्मा के गुण

आत्मा यद्यपि एक देह का परित्याग करके दूसरे देह में जाता है, एक योनि से दूसरी योनि में गमन करता है, तथापि उसका मूल स्वरूप नहीं बदलता, उसके प्रदेशों की संख्या सदैव समान रहती है। देह बदल जाती है पर आत्मा का स्वरूप नहीं बदलता। आत्मा

में जो गुण वैभाविक हैं, जो उपाधिजन्य हैं अर्थात् काल, क्षेत्र, या पर्याय आदि पर-निमित्त से उत्पन्न हुए हैं, जो स्वाभाविक नहीं हैं, वे गुण बदल जाते हैं, परन्तु आत्मा के स्वाभाविक गुणों में परिवर्तन नहीं होता।

आत्मशक्ति

इस आत्मा में जबर्दस्त शक्ति है। वह संसार में उथल-पुथल कर सकती है। जिस साइंस ने आज संसार को कुछ का कुछ बना दिया है उसके मूल में आत्मा की ही शक्ति है। आत्मा न हो तो संसार का काम एक क्षण भी नहीं चल सकता क्योंकि वह स्वयं जड़ है।

जड़ साइंस के चकाचौंध में पड़कर साइन्स के निर्माता—आत्मा—को नहीं भूल जाना चाहिए। अगर तुम साइन्स के प्रति जिज्ञासा रखते हो तो साइन्स के निर्माता के प्रति भी अधिक नहीं तो उतनी ही जिज्ञासा अवश्य रखो। साइन्स को पहचानते हो तो आत्मा को भी पहचानने का प्रयत्न करो।

सच्चा सुख

आनन्द आत्मा का ही गुण है। उसे पर पदार्थों के संयोग में खोजने का प्रयास करना भ्रम है! सत्य तो यह है कि जितने अशों में पर का संयोग होगा उतने ही अशों में सुख की न्यूनता होगी। आत्मा जब समस्त संयोगों से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है तभी उसके स्वाभाविक पूर्ण सुख का आविर्भाव होता है। यह स्वाभाविक सुख ही सच्चा सुख है। पर के निमित्त से सुख होने वाला सुख, सुखाभास है—सुख का मिथ्या संवेदन है।

आनन्द जीव का स्वभाव है। संसारी जीव उस स्वाभाविक आनन्द का अनुभव नहीं कर पाते। उसकी ओर उनका बहुत कम ध्यान जाता है। वे विषय-जन्य इन्द्रिय-सुख में ही मग्न रहते हैं। यह इन्द्रियानन्द स्वाभाविक सुख का विकार है। यह सुख परावलम्बी है। प्रथम तो वह संसार की भोग्य वस्तुओं पर अवलंबित है और दूसरे इन्द्रियों पर आश्रित है। इन दोनों का संयोग मिल जाने पर अगर सुख का उदय होता है तो भी वह क्षणिक है। अल्पकाल तक ही ठहरने वाला सुख भी परि-मित है और विघ्न-बाधाओं से व्याप्त है। न जाने कब, किस क्षण कोई महान् विघ्न उपस्थित हो जाता है और वह सारे सुख को घोर दुःख में परिणत कर देता है। प्रातःकाल जहाँ आनन्द-मङ्गल होता है, बधाइयाँ बजती हैं, संध्या समय वहाँ हाय-हाय मच जाती है।

कदाचित् तीव्र पुण्य के उदय से कोई विघ्न उपस्थित न हो तो भी विषय-सुख सदा विद्यमान नहीं रह सकता। क्योंकि यह सुख विषयों के संयोग से उत्पन्न होता है और 'संयोगा हि वियोगान्ताः' संयोग का फल निश्चित रूप से वियोग ही है।

इस कथन के अनुसार विषय-सामग्री का वियोग हुए विना नहीं रह सकता और उस समय में अथवा जीवन के अन्त में सुख का नाश अवश्यमेव हो जाता है।

इस विषय-सुख में एक बात और है। विना आरंभ-परिग्रह के यह सुख हो ही नहीं सकता और आरंभ-परिग्रह पाप के कारण हैं। पाप दुःख का कारण है। अतएव यह सुख, दुःख का कारण है।

मधु से लिप्त तलवार की धार चाटने से जो सुख होता है और उस सुख के फल-स्वरूप जितना दुःख होता है उतना ही दुःख विषय-जन्य सुख भोगने से होता है। अतएव ज्ञानी-जन इस सुख को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका मन इस ओर कभी आकृष्ट नहीं होता। वे अन्तरात्मा के अनिर्वचनीय, असीम अनन्त और अव्यावाध सुख की खोज में लगे रहते हैं। वही सुख सच्चा सुख है। उसमें दुःख का स्पर्श भी नहीं होता। यही आत्मा का स्वरूप है और 'आनन्द' शब्द से यहाँ उसी का ग्रहण किया गया है।

अपने ही हाथ में

अगर तुम्हें गधी को कामधेनु और कामधेनु को गधी वनाने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाय तो तुम क्या करोगे? कामधेनु को गधी वनाओगे या गधी को कामधेनु? निस्संदेह तुम कहोगे कि गधी को कामधेनु वनाने में ही वुद्धिमत्ता है। तव आत्मा के विषय में भी ऐसा ही क्यों नहीं सोचते? आत्मा के सुख-दुःख का तन्त्र तुम्हारे ही हाथ में है। किसी दूसरे के हाथ में नहीं है; तो आत्मा को सुखरूप-कामधेनु-कल्प क्यों नहीं वनाते?

अनादि काल से जड़ का चेतन के साथ संसर्ग हो रहा है। जव तक चैतन्य के साथ जड़ के रहने का सिलसिला जारी है तब तक आत्मा के दुःख का भी सिलसिला जारी रहेगा। जिस दिन जड़-चेतन के संसर्ग का सिलसिला समाप्त हो जायगा उसी दिन दुःख भी समाप्त हो जायगा और एकान्त सुख प्रकट हो जायगा।

जीव और कर्म का सम्बन्ध

जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है तो वह नष्ट कैसे हो सकता है? जीव किस प्रकार कर्मरहित हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है।

जीव और कर्म का संम्वन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि होने पर भी दूसरी अपेक्षा से वह सादि भी है। गङ्गा के किनारे खड़े रहने पर चार दिन पहले जो जल-धारा दिखाई दी थी वही जल-धारा आज चार दिन वाद भी दिखाई देती है पर वास्तव में देखा जाय तो आज की जल-धारा चार दिन पहले वाली नहीं है। पहले वाली धारा तो उसी समय वह गई और अव न जाने कहाँ पहुँची होगी? जल की धारा अविच्छिन्न रूप से निरन्तर आ रही है, अतएव उसमें एकता की प्रतीति होती है। इस व्यावहारिक

प्रतीति में प्रवाह की सततता मुख्य कारण है, इसी कारण बोल-चाल में यह कहा जाता है कि यह वही जल-धारा है, जो चार दिन पहले देखी थी।

इसी प्रकार प्रतिक्षण आत्मा के साथ नवीन कर्मों का बन्धन होता है और प्रतिक्षण पूर्वबद्ध कर्म, भोग लिये जाने पर जीर्ण होते रहते हैं। जैसे प्रतिक्षण नवीन जलबिन्दु आगे बढ़ जाते हैं, फिर भी उनका प्रवाह जैसा-का तैसा कायम रहता है, इसी प्रकार कर्मों का प्रवाह भी प्रतिक्षण कायम रहता है। यह प्रवाह अनादि काल से चला आता है। इसी प्रवाह की अपेक्षा जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि कहा जाता है। फिर भी विशेष की अपेक्षा वह सादि है, क्योंकि प्रत्येक कर्मविशेष किसी नियत समय में ही बद्ध होता है और अपनी नियत स्थिति के पश्चात् झड़ जाता है। इस प्रकार कर्म का सम्बन्ध सादि होते हुए भी अनादि है।

जब नवीन कर्म प्रतिक्षण आते रहते हैं तो उनका अन्त कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान जैन ग्रन्थों में खूब विस्तार के साथ किया गया है। जीव में कर्म के आस्रव की प्रतिपक्षभूत भावनाओं का ज्यों-ज्यों उत्कर्ष होता जाता है त्यों-त्यों कर्म के आस्रव का अपकर्ष होता चलता है। आस्रव की प्रतिपक्ष भावनाएँ अर्थात् संवर की और निर्जरा की भावनाएँ जब अपने पूर्ण उत्कर्ष की कोटि पर पहुँचती हैं तब आस्रव का पूर्ण रूप से निरोध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जैसे किसी बाँध के द्वारा जल का आगमन रोक देने से प्रवाह स्वयं रुद्ध हो जाता है, धारा विछिन्न हो जाती है, उसी प्रकार संवर रूप बाँध से नवीन कर्म का आगमन रोक दिया जाता है और निर्जरा के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का नाश किया जाता है। इस प्रकार कुछ काल के अनन्तर जीव सर्वथा निष्कर्म, निष्कलंक, निर्विकार, निरंजन, निर्मल बन जाता है।

जैसे दूध और घी आपस में मिले हुए—एकमेक हैं, फिर भी क्रिया द्वारा उन्हें पृथक् कर दिया जाता है, इसी प्रकार आत्मा और कर्म एकमेक से हो रहे हैं. फिर भी तपश्चरण आदि क्रिया के द्वारा दोनों का पृथक् होना संभव है। कर्म पृथक् होने पर आत्मा, परमात्मा बन जाता है। दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता।

आप यह जान चुके कि हममें और भगवान् में केवल विघ्नों का पर्दा है, और इतना-सा ही अंतर है, मगर प्रश्न तो यह है कि यह जान लेने के पश्चात् हमारा कर्त्तव्य क्या है? इसका सीधा-साधा समाधान है और वह यह है कि उस पर्दे को हटा देना चाहिए। जब तक विघ्न-रूप पर्दे को हटाया नहीं जायगा तब तक परमात्मा से भेंट नहीं हो सकती। अगर तुम इस पर्दे को नहीं हटाना चाहते तो यह कहा जायगा कि तुम परमात्मा से भेंट नहीं करना चाहते।

परमात्मा की प्राप्ति

सारा संसार एक भ्रम में पड़ा हुआ है। परमात्मपद की प्राप्ति में जो पदार्थ विघ्न-रूप हैं, उन्हीं को वह कल्याणकारी मान रहा है। आत्मा स्वयं परमात्मा बनना चाहता

है, पर ठीक विपरीत दिशा में प्रयाण करता है। फल यह होता है कि समीपता के बदले दूरी बढ़ती जाती है। अतएव इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि परमात्मा की प्राप्ति के उद्देश्य से हमारा प्रत्येक कदम अनुकूल ही पड़े, प्रतिकूल नहीं। जिन वस्तुओं का संसर्ग इस ध्येय में बाधक हो, उनका परित्याग करना चाहिए। इस प्रकार करने से परमात्मा के साथ भेंट हो सकती है।

आध्यात्मिक-बल

मित्र! अपने-अपने शत्रु का नाश करना सभी को अभीष्ट है। सबकी यही आकांक्षा रहती है कि हम अपने शत्रुओं का विनाश करें, उन पर विजय प्राप्त करें! लेकिन कोई शस्त्र के बल से शत्रु का संहार करना चाहते हैं, कोई राजा के बल से, कोई बाहु-बल से, कोई ईश्वर के बल से शत्रु को नष्ट करना चाहते हैं। मगर इन बलों में बड़ा अन्तर है। अन्यान्य बलों से शत्रु का नाश करने पर अनन्त शत्रुता की वृद्धि होती है और वह शत्रुता भविष्य में महान् दुःख का कारण होती है। मगर ईश्वर के बल से शत्रु का संहार करने पर न वैरी रह जाता है न वैर ही रह पाता है। अगर आपको ईश्वर के बल का अवलम्बन लेना हो तो उस बल पर विचार करो। अगर आप अपने या राजा आदि के बल पर भरोसा रखते हैं तो फिर ईश्वरीय बल की शरण जाने का आपको अधिकार नहीं है। जब तक आप अपने बल पर विश्वास रखकर अहंकार में डूबे रहेंगे, तब तक ईश्वरीय बल नसीब न होगा। इसी प्रकार अन्य भौतिक बलों पर भरोसा करने से भी वह आध्यात्मिक ईश्वरीय बल आप न पा सकेंगे। अहंकार का सम्पूर्ण रूप से उत्सर्ग करके परमात्मा के चरणों में जाने से उस बल की प्राप्ति होती है।

आत्मा की शक्ति

आत्म-बल को प्रगटाने के लिए तुम्हें आत्मा के विकार दूर करने पड़ेंगे। आत्मा के विकार ज्यों-ज्यों हटते जाएँगे त्यों-त्यों तुम्हारी आत्म-शक्ति का आविर्भाव होता चलेगा। तुम्हें अपनी आत्म-शक्ति में निश्चल श्रद्धा है तो वह तुम्हारे पास ही है। वास्तव में यह शक्ति तुम्हारी अपनी आत्मा में ही विद्यमान है।

अगर तुम यह जानना चाहते हो कि आत्मिक शक्ति तुम्हारे भीतर कहाँ रहती है, तो यह जानने से पहले अपनी आत्मा की खोज करो। यह शरीर आत्मा के सहारे टिका हुआ है। शरीर में जो कुछ होता है, वह सब आत्मा की शक्ति की बदौलत ही होता है। और तो और आँख के पलक भी आत्मा की शक्ति से ही गिरते उठते हैं। तुम चर्म-चक्षुओं से आत्मा को नहीं देख सकते। हाँ, इस संबन्ध में अगर गहरा विचार करोगे तो जान पड़ेगा कि समस्त शारीरिक क्रियाओं का आधार आत्मा ही है। जिस आत्मा की शक्ति से शरीर के सब व्यापार होते हैं, उस आत्मा को माया, मृषा आदि द्वारा तुमने अत्यन्त मलीमस बना दिया है। पर यह स्मरण रखना, एक म्यान में दो तलवार नहीं समा सकतीं। इसी प्रकार जब तक आत्मा में माया-मृषा की मलीनता घुसी है, तब तक उसमें

राम बल या आत्मिक सामर्थ्य किस प्रकार प्रकट हो सकता है ? तुम किसी भले-मानुस को अपने घर आने का आमन्त्रण तो दे दो, परन्तु घर के सब दर्वाजे और खिड़कियाँ बन्द कर लो, तो वह आमन्त्रित व्यक्ति तुम्हारे घर में कैसे घुस सकेगा ? इसी प्रकार तुम राम-बल या परमात्म-बल को चाहते तो हो, पर आत्मा के विकारों को दूर नहीं करते। ऐसी दशा में राम-बल कैसे पा सकते हो ? अतएव अगर तुम आत्मा में से विकार-शक्ति को हटा दो, तो तुम्हारे भीतर अक्षय राम-बल या आध्यात्मिक सामर्थ्य प्रकट हो सकता है।

आत्म-बल की श्रेष्ठता

आत्म-बल में अद्भुत शक्ति है। इस बल के सामने संसार का कोई भी बल नहीं टिक सकता। इसके विपरीत जिसमें आत्म-बल का सर्वथा अभाव है वह अन्यान्य बलों का अवलम्बन करके भी कृत-कार्य नहीं हो सकता। मृत्यु के समय अनेक क्या अधिकांश लोग दुःख का अनुभव करते हैं। मृत्यु का घोर अन्धकार इन्हें विह्वल बना देता है। बड़े-बड़े शूरवीर योद्धा, जो समुद्र के वक्षःस्थल पर क्रीड़ा करते हैं, विशाल जल-राशि को चीरकर अपना मार्ग बनाते हैं और देवों की भाँति आकाश में विहार करते हैं, जिनके पराक्रम से संसार थर्राता है, वे भी मृत्यु को समीप आता देखकर कातर बन जाते हैं, दीन हो जाते हैं। लेकिन जो महात्मा आत्मबली होते हैं वे मृत्यु का आलिंगन करते समय रंच-मात्र भी खेद नहीं करते। मृत्यु उनके लिए सघन अंधकार नहीं है, वरन् स्वर्ग-अपवर्ग की ओर ले जाने वाले देवदूत के समान प्रतीत होती है। इसका कारण क्या है ? इसका एक मात्र कारण आत्मबल है।

आत्म-बल सब बलों में श्रेष्ठ है; यही नहीं वरन् यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि आत्म-बल ही एकमात्र सच्चा बल है। जिसे आत्म-बल की लब्धि हो गई है उसे अन्य बल की आवश्यकता नहीं रहती। आधुनिक कविता में आत्मबल की बहुत प्रशंसा की गई है, परन्तु प्राचीन कविता में उसका दूसरे ही रूप से वर्णन किया गया है:—

> सुने री मैंने निर्बल के बल राम।
> पिछली साख भरूं सन्तन की, आडे सुधरे काम। सुने री० ॥
> जब लग गज बल अपनो राख्यो, नेक सर्यो नहीं काम।
> निर्बल हो बलराम पुकारे, आये आधे नाम ॥ सुने री० ॥

चाहे आत्म-बल कहो, चाहे राम-बल कहो, चाहे अर्हन्तबल कहो, चाहे परमेष्ठी-बल कहो, बात एक ही है। आत्मा और परमात्मा का अभेद है, यह मैं बतला चुका हूँ। यदि उस बल को तुम प्राप्त करने की तैयारी में आये हो तो यह सोचो कि उसकी प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? उसे प्राप्त करने के लिए किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए।

इस बल को प्राप्त करने की क्रिया है तो सीधी-सादी, लेकिन क्रिया करने वाले का

अन्तःकरण सच्चा होना चाहिए।

वह क्रिया यह है कि अपना बल छोड़ दो। अर्थात् अपने बल का जो अहंकार तुम्हारे हृदय में आसन जमाये बैठा है, उस अहंकार को निकाल बाहर करो। परमात्मा की शरण में चले जाओ। परमात्मा से जो बल प्राप्त होगा वही आत्म-बल होगा। जब तक तुम ऐसा न करोगे, अपने बल पर अर्थात् अपने शरीर, या अन्य भौतिक साधनों के बल पर निर्भर रहोगे, तब तक आत्म-बल प्राप्त न हो सकेगा।

जिसे तुम अपनी वस्तु कहते हो, उस सब का परित्याग कर दो—सब का यज्ञ कर डालो। इस सब ऊपरी बल से जब विमुख हो जोओगे तो तुम्हारी अन्तरात्मा में एक अपूर्व ओज प्रकाशित होगा। वही ओज आत्म बल होगा।

मनुष्य इधर-उधर भटकता फिरता है—भौतिक पदार्थों को जुटाकर बलशाली बनना चाहता है। लेकिन वह किस काम आएगा? अगर आँख में आन्तरिक शक्ति नहीं है, तो चश्मा लगाना व्यर्थ है। दूरबीन की शक्ति किसी काम की नहीं। इसी प्रकार आत्म-बल के अभाव में भौतिक-बल निरुपयोगी है। अरे, बड़े-बड़े विशाल साम्राज्य भौतिक-बल के सहारे कायम न रह सके! रावण जैसे पराक्रमी योद्धा को उसके भौतिक-बल ने कुछ भी सहायता नहीं पहुँचाई। दुर्योधन की कोटि सेना का सारा बल कुण्ठित हो गया! तुम्हारे पास कितना-सा बल है, जिसके कारण तुम फूले नहीं समाते!

आत्मबली को प्रकृति स्वयं सहायता पहुँचाती है। दन्त-कथा प्रसिद्ध है कि एक बार बादशाह अकबर, महाराणा प्रताप की परीक्षा करने के लिए फकीर का भेष बनाकर आया था। उस समय महाराणा को प्रकृति से सहायता मिली थी।

समुद्र का पानी स्वभाव से स्थिर है, पर पवन की प्रेरणा से वह चंचल बन जाता है। पानी का स्वभाव स्थिर रहने का है परन्तु पानी का पात्र अग्नि पर रख दिया जाय तो अग्नि की प्रेरणा से पानी उबलने लगता है। एंजिन में अग्नि की प्रेरणा से पानी वाष्प रूप में परिणत होता है और वह वाष्प ही सारी गाड़ी को एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है। इस प्रकार गाड़ी का व्यवहार प्रेरणा पर ही निर्भर है।

ठीक इसी तरह कर्म की प्रेरणा से आत्मा अपनी गाड़ी चौरासी लाख योनियों में दौड़ाया करता है। मगर अब आत्मा को भवभ्रमण की दौड़-धूप रोक कर अपने को स्थिर करना चाहिए। आत्मा की स्थिरता के लिए कर्मरहित—अक्रिय होना आवश्यक है।

जैसे पानी अपने स्वभाव से नहीं वरन् अग्नि की प्रेरणा से उबलता है और वह प्रेरणा आगन्तुक-औपाधिक—होने से मिटाई जा सकती है, इसी प्रकार आत्मा को भव-भ्रमण करने की तथा अस्थिर रखने की प्रेरणा कराने वाले कर्म हैं। कर्म की यह प्रेरणा बाह्य एवं कृत्रिम होने से अटकाई जा सकती है। इसीलिए भगवान् ने फ़रमाया है कि पूर्व-संचित कर्मों का क्षय करने से जीवात्मा अक्रिय दशा को प्राप्त होता है और अन्त में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर शान्त हो जाता है।

भगवान् का यह कथन इतना सरल और सत्य है कि सहज ही सबकी समझ में आ सकता है। इस कथन में शंका को तनिक भी अवकाश नहीं है। शास्त्र कहता है—आत्मा में जो भी अस्थिरता है वह योग की चपलता—चंचलता के ही कारण है। योग का निरोध करने से आत्मा की अस्थिरता मिट जायगी और तब आत्मा स्थिर एवं शान्त हो जायगा।

भगवान् ने समस्त जीवात्माओं को उद्देश्य करके स्थिर बनने का उपदेश दिया है, परन्तु लोगों की आत्मा दौड़ (Race) के घोड़े की तरह दौड़धूप मचा रही है। ऐसी स्थिति में उन्हें शांति किस प्रकार मिल सकती है? दौड़ के घोड़े चाहे जितनी दूर और चाहे जितनी तेजी से दौड़ें, फिर भी शांति तो उन्हें तभी मिलती है जब वह दौड़ना बंद कर देते हैं। सदा-सर्वदा दौड़ लगाना न उचित है और न शक्य ही।

आत्मा की वास्तविक शांति स्थिर होने में ही है। जहाँ तक आत्मा स्थिर न होगा तहाँ तक आत्मा को शांति-लाभ संभव नहीं है। व्यवहारदृष्टि से देखने पर भी इस बात की पुष्टि होती है। तुम बाजार में कार्यवश कितनी ही दौड़-धूप करो मगर घर आने पर स्थर तथा शान्त हुए बिना व्यावहारिक शांति नहीं मिल सकती। इसी प्रकार शाश्वत शांति प्राप्त करने के लिए शाश्वत स्थिरता प्राप्त करनी चाहिए।

हे भद्र पुरुषो! तुम जिस प्रकार सांसारिक व्यवहार को महत्त्व देते हो, उसी प्रकार आध्यात्मिक और तात्त्विक बात को भी महत्त्व दो। तुम व्याहारिक कार्यों में जैसा कौशल प्रदर्शित करते हो वही आध्यात्मिक कार्यों में क्यों नहीं दिखलाते? व्यवहार में तुम वस्तु के ऊपरी घाट को महत्त्व नहीं देते, वरन् मूल द्रव्य की ही कीमत आँकते हो। उसी प्रकार तात्त्विक दृष्टि से यह विचार करो कि संसार में जो चराचर जीव हैं उनका मूल्य पर्याय से नहीं है। उनमें विद्यमान जीवत्व-आत्मद्रव्य-की असली कीमत आंकनी चाहिए।

अंगूठी का मूल्य उसकी बनावट से नहीं वरन् सोने से निर्धारित होता है इसी प्रकार जीव किसी भी योनि में क्यों न हो, उसका मूल्य अन्य सभी जीवों के बराबर है, क्योंकि सब जीव स्वरूप से समान हैं।

अन्यत्व भाव

जो तुम्हारा है वह कभी तुम से विलग नहीं हो सकता। जो वस्तु तुम से विलग हो जाती या हो सकती है, वह तुम्हारी नहीं है। पर-पदार्थों के साथ आत्मीयता का भाव स्थापित करना महान् भ्रम है। इस भ्रमपूर्ण आत्मीयता के कारण जगत् अनेक कष्टों से पीड़ित है। अगर मैं और 'मेरी' की मिथ्या धारणा मिट जाय तो जीवन में एक प्रकार की अलौकिक लघुता, निरुपम निस्पृहता और दिव्य शांति का उदय होगा।

"हाथी, घोड़ा, महल, मकान आदि आपके नहीं हैं, यह बात अनाथी मुनि और महाराज श्रेणिक के संवाद से भली-भाँति समझ में आ सकती है।

आत्मा की शक्ति

आजकल लोगों की शक्ति का अधिकांश तो मानसिक चिन्ताओं में नष्ट हो जाता है। आत्मा में अनन्त शक्ति है, पर लोग उस शक्ति को विकसित करने का मार्ग भूल गये हैं और इस कारण वह शक्ति दब गई है। इसके अतिरिक्त इस युग में आराम के जितने साधन प्रस्तुत हुए हैं, उनसे उतना ही आत्मिक-शक्ति का ह्रास हुआ है। मोटर, वायुयान आदि साधनों ने तुम्हारी शक्ति का अपहरण किया है। तुम रेडियो सुनना पसंद करते हो, पर उसे सुनते-सुनते अपने स्वर को भी भूल गये हो।

आत्मा

आत्मा अपने वास्तविक रूप को भूलकर संसार की ऋद्धि के प्रलोभन में पड़ जाता है और फिर उन प्रलोभनों के पीछे-पीछे भटकता फिरता है। वह जगत् के एक दुःख को दूर करने के प्रयास में दूसरे अनेक नये दुःखों का शिकार बन जाता है। वह इस मूल तथ्य की ओर नहीं देखता कि मैं जिन कष्टों को दूर करने के लिए व्यग्र हो रहा हूँ उन कष्टों का उद्गम-स्थान कहाँ है? यह कष्ट क्यों और कहाँ से आये हैं? अब वे कष्ट किस प्रकार विनष्ट किये जा सकते हैं?

पर-संयोग

संसार में संयोग-मात्र नश्वर है और दुःखप्रद है। जहाँ आत्मा किसी भी पर-पदार्थ के साथ अपना संबन्ध जोड़ती है, वहाँ दुःख का अंकुर फूट निकलता है। जितने अंशों में संयोग की वृद्धि होती जाती है उतने ही अंशों में दुःख की वृद्धि होती जाती है। एक आचार्य ने ठीक ही कहा है:—

'संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।'

अर्थात् संसारी जीव को दुखों का जो तांता लगा रहता है उसका मूल संयोग है।

अध्यात्मनिष्ठ

जो आत्माराम में रमण करता है जिसे सच्चिदानन्द पर परिपूर्ण श्रद्धाभाव उत्पन्न हो चुका है, वह मरने से नहीं डरता। क्योंकि वह समझता है. मेरी मृत्यु असंभव है। मैं वह हूँ, जहाँ किसी भी भौतिक शक्ति का प्रवेश नहीं हो सकता।

सच्चिदानन्द के स्वरूप का अनुभव करने वाले को डराने की त्रैलोक्य में शक्ति नहीं है। जिसे सच्चिदानन्द पर पूरा विश्वास हो गया है, पाँचों भूत उसके सेवक बन जाते हैं।

आत्म-ज्ञान का महत्त्व

जिसने शरीर को नाशवान् और आत्मा को अविनाशी समझ लिया, क्या शरीर के नाश होने पर उसे दुःख हो सकता है? आत्म-तत्त्व का परिज्ञान हो

जाने पर शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ तो भी दुःख का स्पर्श नहीं होता।

सच्चे दर्शन का फल

जो अपने आपको द्रष्टा और संसार को नाटक रूप देखता है, सारी शक्तियाँ उसके चरणों की सेवा करने को तैयार रहती हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी की समझ

अज्ञान पुरुष को जिन पदार्थों के वियोग से मर्मवेधी पीड़ा पहुँचती है, ज्ञानी जन को उनका वियोग साधारण-सी घटना प्रतीत होती है। ज्ञानवान् पुरुष संयोग को वियोग का पूर्वरूप मानता है। अतएव वह संयोग के समय हर्ष-विभोर नहीं होता और वियोग के समय विषाद से मलीन नहीं होता। दोनों अवस्थाओं में वह मध्यस्थ भाव रखता है। सुख की कुंजी उसे हाथ लग गई है इसलिए दुःख उससे दूर ही दूर रहते हैं।
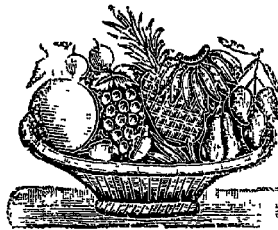
२

परमात्मा

परमात्मा का स्वरूप

प्रत्येक आस्तिक के अन्तःकरण में एक जिज्ञासा का समय-समय पर उदय होता है—'परमात्मा कहाँ है ?' इस जिज्ञासा की तृप्ति के लिए अभी तक अनेक बातें कही गई हैं और कही जाती हैं। तर्क-वितर्क किया जाता है और तरह-तरह से इस जिज्ञासा के समाधान की चेष्टा की जाती है।

जैन सिद्धान्त इस सम्बन्ध में सरल और सीधी बात कहता है। वह बतलाता है कि 'परमात्मा को खोजने के लिए इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा तुमसे कहीं दूर नहीं है। परमात्मा को पहचानना है तो आत्मा की ओर दृष्टि दौड़ाओ। बाहर कहीं परमात्मा नहीं है। वह आत्मा में ही है, बल्कि आत्मा ही है।

आज तुम्हारा आत्मा कर्म के आवरणों से आच्छादित है और इसी कारण उसका परम रूप-विशुद्ध स्वरूप-परमात्मत्व गुप्त छिपा हुआ है। आवरण न हो तो तुम्हारे आत्मा में और परमात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं है। जिस क्षण कर्म आवरण हट जाएँगे उसी क्षण तुम्हें आत्मा में ही परमात्मा की परम ज्योति अनुभव में आने लगेगी।

प्रश्न हो सकता है—कर्मों का आवरण किस उपाय से दूर किया जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि आवरण दूर करने के साधन अनेक हैं और परमात्मा की प्रार्थना करना उनमें से एक उत्तम साधन है। आवरणों को हटाना साध्य है और परमात्मप्रार्थना उसका साधन है। अगर इस साधन द्वारा साध्य की पूर्ति न की जा सकती हो—आत्मा स्वयं परमात्मा न बन सकता हो तो परमात्मा को एक पृथक् सत्ता के रूप में स्वीकार करना होगा और उसे आवरणों से आच्छादित मानना पड़ेगा। यह कल्पना कल्याणकारिणी नहीं है। इसलिए जैनसिद्धान्त के अनुसार आत्मा स्वयमेव परमात्मा की स्थिति प्राप्त कर लेता है और इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना का आश्रय लिया जाता है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जो आत्मा आज परमात्मा के रूप में स्थित है, वह एक दिन हमारे आत्मा के ही समान कर्मावरणों से लिप्त था। कर्मावरणों का नाश करके ही उसने परमात्म-दशा प्राप्त की है। परमात्मा हमारे समक्ष एक महान् आदर्श है। परमात्मा के आदर्श को समक्ष रखकर उसके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने से आत्मा भी वही स्थिति प्राप्त कर लेगा। परमात्मा के स्वरूप का विचार करने से हमारे हृदय में विश्वास का अंकुर उत्पन्न होता है कि परमात्मत्व की प्राप्ति असंभव नहीं, संभव है, साध्य है, असाध्य नहीं। कर्मों की स्थिति देखने से प्रतीत होता है कि कर्म परिवर्त्तनशील हैं। अगर कर्म परिवर्त्तनशील न होते तो निराशा को अवकाश मिल सकता था, पर यह तो प्रत्यक्ष है कि कर्म सदा परिवर्तित होते रहते हैं और इसी कारण उनका फल सुख-दुःख आदि भी बदलते देखे जाते हैं। कर्म सदा समान स्थिति में नहीं रहते। इसलिए निराश होने का कोई कारण नहीं है। पशुवत् जीवन यापन करने वाले जङ्गली पुरुष को शिक्षा एवं संस्कृति द्वारा सुशिक्षित बनाया जा

सकता है। इससे यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि साधनों द्वारा अथवा प्राकृतिक रीति से ज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षयोपशम होता है। जब कर्मों का क्षय होना संभव है तो उसके साधनों का प्रयोग करके उन्हें क्षय करना और आत्मा के विशुद्धतम स्वरूप को प्राप्त करना मानव का परम कर्त्तव्य होना चाहिए। कर्मों से न घबराते हुए सोचना चाहिए कि—

अनेक जन्मससिद्धिस्ततो याति परां गतिम्।

अर्थात् अनेक जन्म-जन्मान्तरों के पश्चात् भी सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, अतएव पुरुषार्थ करते रहना चाहिए।

एक मुमुक्षु ज्ञानी को संशय उत्पन्न हुआ कि मेरी मुक्ति कब होगी? संशय-निवारण के लिए उन्होंने दूसरे ज्ञानी से पूछा। उन्होंने बतलाया एक करोड़ जन्म के पश्चात् तुम्हारी मुक्ति होगी। यह उत्तर सुनकर मुमुक्षु को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने सोचा—अनन्त भवों की अपेक्षा करोड़ भव किस गिनती में हैं? तब दूसरे ज्ञानी ने कहा—अब करोड़ भव से पहले ही तुम मुक्ति-लाभ कर सकोगे, क्योंकि दृढ़ विश्वास होने के कारण तुम्हारी स्थिति बहुत ऊँची हो गई है।

तात्पर्य यह है कि कर्मों की स्थिति नाशवान् है, इस दृढ़ विश्वास के साथ आगे बढ़ते जाओ तो आत्मा के समस्त आवरण ही जल्दी नष्ट हो जाएँगे। दृढ़ विश्वास वाले के प्रगाढ़ कर्म भी शिथिल पड़ जाते हैं और तीव्र रस वाले मन्द रस वाले हो जाते हैं। दृढ़ विश्वास के कारण ऐसा परिवर्त्तन हो जाता है। अतएव अपनी श्रद्धा को हिमालय के समान अचल बनाओ और कर्मावरणों के समूल उन्मूलन का यत्न करते चलो।

एक दिन परमात्मा स्वयं हमारी जैसी स्थिति में थे। कर्मावरणों से उनकी आत्मा लिप्त थी। उन्होंने प्रबल पुरुषार्थ करके अपने आवरणों का अन्त किया और परम पद के अधिकारी हुए। उनमें आठ अलौकिक गुण प्रकट हुए।

'अष्ट गुणां करि ओलख्यो रे ज्योतिरूप भगवन्त।'

हे प्रभो! अपना और तुम्हारा साम्य देखकर ही ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि आत्मा आवरणों से रहित होकर परमात्मा बन सकता है। अतएव निराश होने का कोई कारण नहीं है। तुम्हें आदर्श मानकर आवरणों को नष्ट करने का प्रयत्न करना ही मेरे जीवन की साधना है।

आवरणों का अन्त करने के लिए शास्त्रप्रणेताओं ने जिन गुणों के अभ्यास की आवश्यकता प्रकट की है उनके अभ्यास से तात्कालिक—ऐहिक लाभ भी होता है। उदाहरण के लिए क्षमा को लीजिए। आवरणों का नाश करने के लिए शास्त्रकारों ने क्षमा की भी आवश्यकता प्रकट की है। क्षमा का

अालम्बन करने से पारलौकिक लाभ होता है, पर क्या ऐहिक लाभ उससे नहीं है ? क्रोध भड़कने पर नेत्र जलने लगते हैं, मस्तक में पागलपन भर जाता है, छाती धड़कने लगती है, चेहरे पर विकृति नाचने लगती है। ऐसे समय क्षमा का अवलम्बन लेने से शांति नहीं मिलती ? क्षमा भाव का यह ऐहिक लाभ क्या उपेक्षणीय है ?

कहा जा सकता है—जब क्रोध से सारा शरीर प्रज्वलित हो उठता है तब क्षमा का आविर्भाव कैसे संभव है ? इस संबंध में मेरा निवेदन यह है कि इस प्रकार का विचार करना एक प्रकार की निर्बलता है। अगर इस आत्मिक निर्बलता का परित्याग कर दिया जाय तो क्षमाभाव का आविर्भाव कठिन नहीं हो सकता।

इसी प्रकार परमात्मपद प्राप्त करने के लिए जो अन्य सात्विक गुण अपेक्षित हैं, उन सभी से इस लोक में एकान्त लाभ है अतः उन गुणों को प्राप्त करके जीवन को सुखमय और अन्ततः परमात्ममय बनाना प्रत्येक भव्य पुरुष का परम कर्त्तव्य है।

परमात्मा पाप-प्रेरक नहीं

जो ईश्वर को ही पाप का प्रेरक मानते हैं, उन्हें अगर यह पक्का विश्वास है कि पाप हम नहीं करते वरन् ईश्वर हमसे कराता है। तो मैं पूछना चाहता हूँ कि धर्म कौन कराता है ? ईश्वर बुरा कराता है तो भला कौन कारता है ? ईश्वर अगर बुराई की ओर घसीट कर ले जाता है तो भलाई की तरफ खींच ले जाने वाला कौन है ? अगर यह कहा जाय कि भलाई की ओर भी ईश्वर ही ले जाता है, धर्म भी ईश्वर ही कराता है, तब तो ईश्वर एक खिलवाड़ करने वाला ठहरा ! जब भला भी ईश्वर ही कराता है तब वह बुरा क्यों कराएगा ? वह भला ही भला क्यों नहीं कराता ? वह बुरे काम कराता भी है और बुरे कामों की भी निन्दा करता है, यह कैसा तमाशा है ?

कुरान देखो, चाहे पुराण पढ़ो, वेद को उठाकर देखो, चाहे बाइबिल का पाठ करो चाहे जिनागम का पारायण करो, चाहें बौद्ध शास्त्र का स्वाध्याय करो, सर्वत्र बुरे कामों की निन्दा की गई है।

जगत् के समस्त शास्त्र जिस आचरण की एक स्वर से निन्दा करते हैं, जिस आचरण का निषेध करते हैं, वही आचरण ईश्वर कराता है, ऐसा कहना एकदम असंगत है। ऐसे कथन पर कोई विचारशील पुरुष विश्वास करने को तैयार नहीं हो सकता।

राजा अपराधी को दंड देता है, लेकिन दंड देने से पहले वह अपराधों की

रोक भी करता है। अगर कोई राजा अपराधों की रुकावट न करे, यही नहीं वरन् अपराध करने के लिए प्रेरणा करे और फिर अपराध करने वाले को दंड देने को तैयार हो जाय तो उस राजा को कौन न्यायी राजा कहेगा? ऐसा राजा हत्यारा कहलावेगा।

पापाचरण में प्रेरणा करने के लिए अथवा उसका दंड भोगने के लिए यदि ईश्वर को बीच में लाया जाय तो ईश्वर की स्थिति बड़ी बेढंगी हो जाती है। एक आदमी चोरी करता है और उसे चोरी करने की प्रेरणा ईश्वर करता है तो आप स्वयं सोचें कि ईश्वर को चोरी करने का दोष क्यों नहीं लगेगा? अगर ईश्वर स्वयं चोर-कर्म का भागी हो तो क्या वह चोर को दंड दे सकता है? जो लोग ईश्वर को का प्रेरक और दण्डदाता दोनों मानते हैं उन्हें इस उलझन पर विचार करना चाहिए। इस प्रकार ईश्वर को पाप में डालने वाला या कर्म का फल देने वाला मानने से बड़ी गड़बड़ी पड़ती है। ईश्वर निष्कलंक, निरंजन, निराकार, वीतराग और कृतकृत्य है। उसे इन सब झंझटों से कोई वास्ता नहीं है।

परमात्मा की विभुता

परमात्मा अनन्त सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी है। बड़े-से-बड़ा पापी परमात्मा को बुलाता है तब भी वह उसके हृदय में वास करने के लिए आ जाता है। उसका विरुद ही ऐसा है।

सूर्य राज-प्रासाद पर प्रकाश फैलाता है और अस्पृश्य की झौंपड़ी पर भी। अगर सूर्य किसी को प्रकाश दे और किसी को नहीं, तो वह सूर्य कहलाने का अधिकारी ही न होगा।

जब सूर्य की ऐसी महिमा है तो सूर्य से अनन्तगुनी महिमा वाला परमात्मा किसी प्रकार का भेदभाव या पक्षपात कैसे रख सकता है? वास्तव में परमात्मा किसी के साथ भेदभाव या पक्षपात नहीं करता। वह सभी के हृदयमंदिर में बसने आ जाता है। बात सिर्फ इतनी है कि परमात्मा को बसाने के लिए काम-वासनाओं को तिलांजलि देनी होगी। दोनों का एक साथ समावेश होना संभव नहीं है।

परमात्मा सबका है

जिन्होंने परमात्मा के स्वरूप को भलीभांति समझ लिया है, वे ज्ञानी पुरुष यह मानते है कि परमात्मा सभी का है—सभी के लिए है। परमात्मा किसी एक का नहीं और जो किसी एक का है वह परमात्मा नहीं है। सूर्य किसका है? सूर्य क्या किसी एक का होकर रहता है? वह सबको समान प्रकाश देता है। जो सबको समान रूप से प्रकाश नहीं देता, वह सूर्य ही नहीं है।

परमात्मा की प्रार्थना करने वाले भक्त अगर यह मानते हैं, कि परमात्मा त्रिलोकीनाथ है और वह अपने गुणों के द्वारा सर्वव्यापक है तो उन्हें यह भी मानना चाहिए कि वह सबका है। पुरातन महात्माओं ने अपनी गहरी अनुभूति के आधार पर 'परमात्मा सबका है' इस प्रकार की भावना व्यक्त की है।

जिन्होंने ज्ञान का मर्म नहीं पाया है और जिनका अन्तःकरण राग-द्वेष से मलिन. है उनमें अहंकार और ममत्व की प्रबलता होती है। वह अहंकार या ममकार लौकिक वस्तुओं तक सीमित नहीं रहता। जब उसकी अत्यधिक प्रबलता होती है तब परमात्मा जैसी सार्वजनिक वस्तु भी अहङ्कार की परिधि में आ जाती है और लोग अभिमान के साथ कहते हैं—परमात्मा हमारा है, वह किसी और का नहीं है। पर किसी का कोई भी प्रयत्न जैसे आकाश को सार्वजनिक होने से नहीं रोक सकता। उसी प्रकार वह ईश्वर को भी साम्प्रदायिकता के दायरे में बन्द नहीं कर सकता। अतएव हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि परमात्मा सबका है अर्थात् उसकी भक्ति से सब अपना कल्याण कर सकते हैं। परमात्मा में भेद-भाव को कोई स्थान नहीं है।

प्राचीन काल के महात्माओं की कृतियों में, यदि उन्हें बारीक दृष्टि से देखा जाय तो, स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे इस बात का पूर्ण ध्यान रखते थे कि धर्म क्लेश-कलह का कारण न होने पाए। धर्म, मङ्गलकारक ही नहीं है, साक्षात् मङ्गल है। वह क्लेश-कलह रूप अमंगल का जनक कैसे हो सकता है? आज धार्मिक उदारता का वायु बहने लगा है, इसीलिए मै परमात्मा की एकता का प्रतिपादन नहीं करता, वरन् प्राचीन धार्मिक ग्रंथों से यह पता चलता है कि अनेक पूर्ववर्त्ती महात्माओं ने अभेद दशा का अनुभव किया था और परमात्मा की अभेद रूप में प्रार्थना की थी।

अनुभूति-शून्य लोग परमात्मा को तो पाते नहीं, परमात्मा का नाम-मात्र पाते हैं। परमात्मा परम प्रकर्ष को प्राप्त अनन्त गुणों का अखण्ड समूह है। वह एक भावमय सत्ता है, पर वहिर्दृष्टि लोग उसे शब्दमय मान बैठते हैं। अनन्त गुणमय होने के कारण लोग परमात्मा के खण्ड-खण्ड करने पर उतारू हो जाते हैं। उनके लिए परमात्मा से बढ़कर परमात्मा का नाम है। अतएव वे नाम को पकड़ बैठते हैं। नाम के आवरण में छिपी हुई विराट और व्यापक सत्ता को वे नहीं पहचानते। जिन्हें अन्तर्दृष्टि का लाभ हो गया है और जो शब्दों के व्यूह को चीरकर भीतरी मर्म तक पहुँचने का सामर्थ्य रखते हैं, वे नाम को गौण और वस्तु को प्रधान मानते हैं। अतएव हमारे हृदय में यह दिव्य भावना आनी चाहिए कि परमात्मा सबका है। उसे क्लेश-कदाग्रह का साधन बनाकर आपस में लड़-मरना नहीं चाहिए।

एक प्राचीन महात्मा कहते हैं—शैव जिसे कहकर पूजते हैं, बौद्ध जिसे बुद्ध

कहते हैं, वेदान्ती जिसे ब्रह्म कहते हैं, नैयायिक जिसे कर्त्ता कहते हैं, जैन जिसे अर्हन् कहते हैं और मीमांसक जिसे कर्म कहकर अपनी भावना अभिव्यक्त करते हैं वह—जो भी कोई परममङ्गलमूर्त्ति है—हमें सिद्धि प्रदान करे। कौन समस्त प्रयोजनों को सिद्ध करे, इस सम्बन्ध में कहा गया है—

त्रैलोक्यनाथो हरिः।'

'हरि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—

हरति पापानि इति हरिः।

'हर' शब्द की भी ऐसी ही व्युत्पत्ति है। अर्थात् जो पापों का हरण-विनाश करता है, वह हरि या हर कहलाता है। शिव किसे कहते हैं, इस सम्बन्ध में कहा गया है—'सत्यं शिवं सुन्दरम्' अर्थात् जो सत्य है, शिव यानी कल्याणमय है और सुन्दर है, वह हर या शिव है। त्रिलोकीनाथ हरि से पाप हरण करने की प्रार्थना की गई है और पापों के हरने में हरि और हर समान अर्थ रखते हैं। फिर इन दो नामों के अर्थ में—जिसके यह दो नाम हैं उस परमात्मा में—अन्तर क्या है, जिससे नाम की आड़ लेकर सिर-फुटौवल किया जाय? बौद्ध लोग भले ही परमात्मा को 'बुद्ध' नाम देकर प्रार्थना करते हैं पर वस्तु तो वही है। उसकी प्रार्थना भी पाप को नाश करने के लिए ही है। फिर हरि, हर या बुद्ध में भेद क्या रहा? मीमांसक उस परम-तत्त्व को कर्म-रूप मानते हैं। पर वे कर्म, पाप-नाशक करने के लिए करते हैं या पाप बढाना उनका उद्देश्य है? जैन लोग परमात्मा को अर्हन् कहते हैं। लेकिन अर्हन् कहकर वे पाप बढ़ाने के लिए परमात्मा की प्रार्थना करते हैं या पाप नष्ट करने के लिए? जब पापों का नाश करने के लिए ही इन सब नामों से परमात्मा की प्रार्थना की जाती है तो क्लेश और कलह का कारण क्या है? जल, सलिल और पानी जब एक ही वस्तु के अलग-अलग नाम हैं तो क्या जल से ही प्यास बुझेगी? पानी से नहीं बुझेगी? तात्पर्य यह है कि प्यास शान्त करने के लिए चाहे जल पिया जाय, चाहे सलिल पिया जाय और चाहे पानी पिया जाय—सब एक ही बात है। इसी प्रकार पापनाश करने के लिए चाहे किसी भी नाम से परमात्मा की प्रार्थना की जाय, उसमें भेद नहीं है—क्योंकि नाम भेद से वस्तु में भेद नहीं होता। वस्तु की विभिन्नता गुणमूलक है। अतएव परमात्मा की प्रार्थना करने में उदारभाव से काम लेना चाहिए।

भक्तों का आधार

आकाश अनन्त है। वायुयान पर विहार करने वाले भी आकाश का अन्त नहीं पा सकते, तो बेचारे पक्षियों की क्या चलाई? फिर भी पक्षियों का आधार आकाश ही है। पक्षी दाना चुगने पृथ्वी पर आते हैं अवश्य, फिर भी उनका मूल आधार आकाश है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में पक्षियों का आधार आकाश बतलाया गया है। जरा भी भय की आशंका होते ही पक्षी आकाश की शरण लेते हैं।

इसी प्रकार भक्तों का आधार परमात्मा है। भक्तजन परमात्मा का ही सहारा लेते हैं। परमात्मा के स्वरूप का पार मिले या न मिले, भक्तजन संसार में रहते हुए भी परमात्मा का ही आश्रय लेते हैं। इसीलिए वे परमात्मा के स्वरूप को जानने का उद्योग करते रहते हैं। स्वरूप का पार न पाने पर उन्हें कभी निराशा नहीं सताती। असफलता उद्योग की मात्रा में वृद्धि करने की प्रेरणा करती है। जैसे पक्षी आकाश का आश्रय पाकर अपने को निर्भय समझता है, उसी प्रकार भक्तजन परमात्मा के आश्रय में ही अपनी निर्भयता देखते हैं।

ईश्वरीय बल

लोग कहते हैं—धार्मिक लोग कायर होते हैं, निर्बल होते हैं। मैं कहता हूँ-अगर धार्मिक लोग सच्ची निर्बलता प्राप्त कर सकें तो उनमें ईश्वर का बल आ जाय। ईश्वरीय बल की समता क्या है? एक ओर संसार का समस्त बल संगृहीत किया जाय और दूसरी ओर परमात्मा का बल हो तो किसकी शक्ति अधिक होगी? परमात्मा के बल के सामने विश्व का सम्पूर्ण बल किसी गिनती में नहीं। अगर तुम इस सत्य पर श्रद्धा कर सको और संसार के बल के सामने ईश्वरीय बल को महान् समझ सको तो तुच्छ बल का त्याग कर महान् बल को प्राप्त करने की चेष्टा करो। निश्चय समझो—ईश्वरीय बल के समक्ष संसार का बल तुच्छ है, त्याज्य है और हीरे के मुकाबिले कंकर के समान है। सच्चा वीर पुरुष हीरे के समान बल को प्राप्त करने के लिए कंकर के समान बल का त्याग किये बिना नहीं रह सकता।

ईश्वरबल और अन्य बल

संसार की सर्वश्रेष्ठ शक्तियों ने, अपना सम्पूर्ण बल लगाकर युद्ध किया परन्तु फल क्या हुआ? क्या वैर का अन्त हुआ? नहीं। बल्कि वैर की वृद्धि हुई है। भौतिक बल के प्रयोग का परिणाम इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

केवल ईश्वर की ही ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा शत्रु भी नहीं रहता है और शत्रुता का भी नाश हो जाता है।

परमात्मा का राज्य

यह जीव संसार-अटवी में भटकता फिरता था। पुण्य के योग से इसे आर्य क्षेत्र और मनुष्यजन्म मिल गया। आर्यक्षेत्र और मनुष्य जन्म संसार-अटवी से निकाल कर परमात्मा के राज्य में पहुँचाने वाले मित्र हैं। इन मित्रों की सहायता लेकर सिद्धान्त के मार्ग पर चलना और परमात्मा के राज्य में पहुँचाना अपने हाथ की बात है। परमात्मा के राज्य में पहुँच जाने पर किस बात का भय है? अगर कोई मनुष्य जंगल में से भाग निकल कर किसी सुराज्य में दाखिल हो जाता है तो अपने को निरापद मान, संतोष की सांस लेता है, चौरादि के भय से मुक्त सम-

भाता है । जब मानवीय राजा के राज्य में भी भय नहीं रहता तो परमात्मा के राज्य में भय की संभावना ही कैसे की जा सकती है ?

ईश्वर–साक्षात्कार

संसार सम्बन्धी विचारों से बचने के लिए और आत्मा को परमात्मा के स्वरूप में परिणत करने के लिए, उपाधि का त्याग करो। निरन्तर चिन्तन, मनन, ध्यानादि उपायों के द्वारा आत्मा को आगे बढ़ाओ। आत्मा की जो अनन्त शक्तियाँ सुप्त अवस्था में पड़ी हुई हैं, उन्हें जगाओ। ऐसा करने पर ईश्वर नज़र आएगा।

परमात्मा के प्रति कृतज्ञता

तू भूल रहा है। तुझे नहीं मालूम कि तुझ पर परमात्मा का कितना उपकार है! ज्ञानियों का समागम कर तो मालूम होगा कि परमात्मा की ओर से तुझे क्या अनमोल उपहार मिला है और तुझे परमात्मा के प्रति कितना कृतज्ञ होना चाहिए।

संसार की वस्तुएँ अधिक श्रेष्ठ हैं या मनुष्यशरीर ? संसार की समस्त वस्तुएँ एक ओर हों और मनुष्यशरीर दूसरी ओर हो तो भी मनुष्यशरीर का ही मूल्य अधिक होगा। सांसारिक पदार्थों में रत्न श्रेष्ठ माना जाता है परन्तु रत्न की श्रेष्ठता समझने वाला कौन है ? मनुष्य ही। बंदर रत्न की कीमत नहीं आंक सकता। इसी प्रकार समस्त पदार्थ मानव-शरीर से नीचे हैं। फिर भी तू भूल रहा है और परमात्मा के प्रति कृतज्ञ नहीं होता ! परमात्मा की कृपा से मनुष्यजीवन प्राप्त हुआ है, अतः उसका गुण-गान करो। यह शरीर परमात्मा के भजन और भक्ति का अपूर्व साधन है।

जिनवाणी

जैसे पानी में किसी प्रकार का भेद नहीं है, वैसे ही जिन वाणी में भी। जिन-वाणी सबके लिए समान है । पानी चाहे कुएँ का हो, या तालाब का, मूल में एक समान है। परन्तु जब लोग तालाब या कूप से घड़े में जल भर लाते हैं, तब अहंकार पैदा होता है। एक कहता है—'पानी मेरा है, कोई हाथ न लगावे।' पर पानी में वास्तव में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है। प्रकृति समानभाव से सब के लिए वर्षा करती है। प्रकृति समानभाव से जिस प्रकार सब का पोषण करती है वैसा कोई दूसरा नहीं कर सकता।

जिस प्रकार सरोवर या कूप में से घड़ा भर लाने वाला जल पर अपना एकाधिपत्य मानता है, पर सरोवर या कूप सबके लिए समान है, इसी प्रकार जिन-वाणी रूपी सरोवर से अपनी बुद्धि द्वारा सूत्र रूपी घट भर लिया जाय तो हानि नहीं, पर वह तो मूलतः भगवान् की ही है और उस पर सबका समान अधिकार है।

३

भगवद्भक्ति या परमात्मप्रार्थना

ईश्वरभक्ति

मानव-जीवन संसार की बड़ी-से-बड़ी सम्पदा है। यह सम्पदा तुम्हें मिली है, पर तुम इसकी कीमत नहीं समझते। अगर तुम मानव-जीवन का मूल्य समझते तो विचार करते कि—'मुझे यह अनमोल रत्न मिला है तो कंकर के बदले इसे फेंक देने की मूर्खता मैं कैसे करूँ?' भाइयो, मनुष्यजन्म का मूल्य समझो और एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देकर परमात्मा की भक्ति में समय का सदुपयोग करो। ऐसा करने से तुम्हारा जीवन सार्थक होगा और तुम्हारी आत्मा ईश्वरमय बन जायगी।

भगवद्-भक्ति

अगर मुझसे कोई प्रश्न करे कि परमात्मा को प्राप्त करने का सरल मार्ग क्या है? तो मैं कहूँगा—परमात्मा की प्राप्ति का सरल मार्ग परमात्मा की प्रार्थना करना है। अनन्य भाव से परमात्मा की प्रार्थना या भक्ति करने से परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है।

यह पूछा जा सकता है कि परमात्मा की प्रार्थना किस प्रकार करनी चाहिए? वास्तव में परमात्मा की प्रार्थना की विधि का ज्ञान होना आवश्यक है। किन्तु प्रार्थना-विधि का परिज्ञान भक्तजनों के चरित्र में निहित है। भक्त अपना चरित्र छोड़ गये हैं और कह गये हैं कि हम जिस मार्ग पर चले हैं उसी मार्ग पर तुम भी चले आओ और हमने जो स्थिति प्राप्त की है, तुम भी वही स्थिति प्राप्त करो।

ईश्वर-मिलन

पतिव्रता स्त्री को अपने पति से मिलने की जैसी तड़फ होती है, उससे कहीं अधिक गहरी तड़फ आत्मा को परमात्मा से मिलने की होनी चाहिये। अपने प्रिय से मिलने की लालसा किसे नहीं होती? परमात्मा से मिलने की तड़फ प्रत्येक में सनातन काल से विद्यमान है। उसे फलीभूत करने का पुरुषार्थ करना आत्मा का परम कर्त्तव्य है।

नमस्कार

नमस्कार करना साधारण कार्य नहीं है। मस्तक झुकाना एक असाधारण मूल्यवान् व्यापार है। चाहे जिसके आगे मस्तक नहीं झुकाया जा सकता। मस्तक झुकाने वाला जिसके आगे मस्तक झुकाता है उसके प्रति सम्पूर्णभाव से समर्पित हो जाता है। समर्पण की आंतरिक क्रिया का बाह्य प्रतीक है—नमस्कार। नमस्कार करने वाला नमस्करणीय के चरणों में न केवल मस्तिष्क अर्पण करता है वरन् वह अपना हृदय, अपना तन, अपनी बुद्धि, अपनी योग्यता, यहाँ तक कि अपना जीवन भी अर्पण कर देता है। वह पूर्ण रूप से उसी का हो जाता है।

नमस्कार के रूप में सर्वस्व समर्पण कर देने वाला आराधक पाता क्या है? न वह प्रशंसा चाहता है, न कीर्त्ति चाहता है, न अहंकार खरीदता है, न गौरव मानता है। वह हृदय, मस्तिष्क, बुद्धि और अहंकार के भार को अपने आराध्य के आगे विसर्जित कर देता है सो इसलिए नहीं कि उसके बदले वह कीर्त्ति, महिमा आदि खरीदे। वह अपना बोझ हलका करता है. कीर्त्ति आदि का बोझ नये सिरे से अपने ऊपर लादता नहीं है। यही निष्काम भक्ति है। यही विशुद्ध आराधना है। जिसके हृदय में ऐसी भक्ति होती है वही नमस्कार करने का अधिकारी है। उसी का नमस्कार पूर्ण फलदायक होता है।

बुद्धि का समर्पण

बुद्धिवाद के इस युग में, बौद्धिक चपलता के कारण आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व में शंका की जाती है। परन्तु बुद्धि को, जो आत्मा की दासी है. परमात्मा के चरणों में अर्पित कर दिया जाय तो इस प्रकार की शंकाओं के लिए अवकाश ही न रहे।

प्रार्थना—कल्पवृक्ष

जो लोग परमात्मा की प्रार्थना में श्रद्धा रखते हैं और जो प्रार्थना की शक्ति को स्वीकार करते हैं, उनके लिए प्रार्थना एक अपूर्व वस्तु है। उस पर यदि विश्वास रखा जाय तो उससे अपूर्व वस्तु की प्राप्ति होती है। यदि प्रार्थना में विश्वास न हुआ तो वही एक प्रकार का ढोंग बन जाती है। उससे फिर अपूर्व वस्तु की प्राप्ति होना संभव नहीं है। कल्पवृक्ष में कौन सी वस्तु नहीं रही हुई है? उसमें रहती तो सभी वस्तुएँ हैं पर नज़र एक भी नहीं आती। फिर भी कल्प-वृक्ष के नीचे बैठकर जिस वस्तु की कल्पना की जाती है, वही वस्तु मिल जाती है। इस प्रकार कल्पवृक्ष स्वयं कल्पना (चिन्ता) के आधार से वस्तु प्रदान करता है। यदि कल्पना न की जाय तो उस वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार परमात्मा की प्रार्थना में निहित शक्ति भले ही दृष्टिगोचर न हो, पर यदि उस पर विश्वास किया जाय तो उससे समस्त मनोरथ पूरे हो सकते हैं। यही कारण है कि ज्ञानी जन परमात्मा की प्रार्थना के सामने कल्पवृक्ष या चिन्तामणि रत्न की भी परवाह नहीं करते। उनकी दृष्टि में परमात्मा की प्रार्थना के मुकाबिले उसकी भी कीमत नहीं है। जब हमारे भीतर परमात्मा की प्रार्थना पर ऐसा प्रगाढ़ विश्वास पैदा हो जाएगा और प्रार्थना के सामने कल्पवृक्ष और चिन्तामणि भी तुच्छ प्रतीत होने लगेंगे. तब हमें स्पष्ट मालूम हो जायगा कि परमात्मा की प्रार्थना में कैसी अद्भुत शक्ति विद्यमान है। अतः परमात्मा की प्रार्थना में दृढ़ विश्वास रखो। हाँ, एक बात स्मरण रखनी चाहिए और वह यह कि जब किसी सांसारिक पदार्थ की इच्छा को पूर्ण करने के लिए परमात्मा की प्रार्थना की जाती है. तब वह सच्ची प्रार्थना नहीं वरन् ऊपरी ढोंग बन जाती है। इस विषय में भक्त केशवलाल ने ठीक ही

कहा है—'परमात्मा की प्रार्थना में पन्द्रह आना मन लगा हो और केवल एक आना मन सांसारिक पदार्थ की पूर्त्ति में लगा हो तो वह प्रार्थना भी ढोंग रूप ही है।'

किसान को घास और भूसे की भी आवश्यकता पड़ती है। पर वह घास भूसे के लिए खेती नहीं करता। उसका उद्देश्य तो धान्य को प्राप्त करना होता है। फिर भी धान्य के साथ घास-भूसा भी आनुषंगिक रूप में उसे मिल ही जाता है। इसी प्रकार परमात्मा की प्रार्थना करते समय ऐसा विचार करना चाहिए कि ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए मैं प्रार्थना करता हूँ, क्योंकि ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने में ही आत्मा का कल्याण समाया हुआ है। इस प्रकार की उन्नत भावना रखने से अन्न के साथ-साथ जैसे घास-भूसा आप ही मिल जाता है, उसी प्रकार सांसारिक पदार्थ भी अनायास ही मिल जाते हैं। लेकिन संसार की सब वस्तुएँ पा लेने की अपेक्षा आत्मा का कल्याण-साधन श्रेष्ठतर है। अतएव आत्मिक निर्मलता के लक्ष्य से ही परमात्मा की प्रार्थना करनी चाहिए। अगर प्रार्थना द्वारा आत्मा का हित-साधन हो सकता है तो तुच्छ चीजों को पाने के लिए उस प्रार्थना का उपयोग करना, चने के बदले रत्न देने के समान मूर्खता है। आत्म-कल्याण की अभिलाषा रखने वालों को ऐसी मूर्खता कदापि नहीं करनी चाहिए।

परमात्मा की प्रार्थना, किसी भी स्थान पर और किसी भी परिस्थिति में की जा सकती है। पर प्रार्थना में आत्म-समर्पण की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। प्रार्थना करने वाला अपनी व्यक्तिगत सत्ता को भूल जाता है। वह परमात्मा के साथ अपना तादात्म्य-सा स्थापित कर लेता है। वस्तुतः आत्मोत्सर्ग के बिना सच्ची प्रार्थना नहीं हो सकती। इसलिए भक्त-जन कहते हैं—

तन धन प्राण समर्पी प्रभु ने इन पर वेगि रिझास्यां राज।

अर्थात्—परमात्मा की प्रार्थना करने में तन, धन और प्राण भी अर्पण कर दूँगा।

प्रार्थना संबंधी श्रद्धा

यदि तुम्हारे चर्म-चक्षु ईश्वर का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं है तो इससे क्या हुआ? चर्म-चक्षु के अतिरिक्त हृदय-चक्षु भी है और उस चक्षु पर विश्वास भी किया जा सकता है। परमात्मा की प्रार्थना के विषय में ज्ञानी जन यही कहते हैं कि तुम चर्म-चक्षुओं पर ही निर्भर न रहो, हमारी बात मानो। बचपन में जब तुमने बहुत-सी वस्तुएँ नहीं देखी होतीं तब माता के कथन पर तुम भरोसा रखते हो। क्या उससे तुम्हें कभी हानि हुई है? बचपन में तुम सांप को भी सांप नहीं समझते थे। मगर माता पर विश्वास रखकर ही तुम सांप को सांप समझ सके हो और सांप के दंश से अपनी रक्षा कर सके हो। फिर उन ज्ञानियों पर, जिनके हृदय में माता के समान करुणा और वात्सल्य का अविरल स्रोत प्रवाहित होता रहता है, श्रद्धा रखने से तुम्हें हानि कैसे हो सकती है? उन पर विश्वास रखने से

तुम्हें हानि कदापि न होगी, प्रत्युत लाभ ही होगा। अतएव जब ज्ञानी जन कहते हैं कि परमात्मा है और उसकी प्रार्थना—स्तुति करने से शान्तिलाभ होता है तो उनके इस कथन पर विश्वास रखो। स्मरण रखना, इस प्रकार के विश्वास से तुम्हारा अवश्य कल्याण होगा।

विषयवासना और भक्ति

विषय-वासना होने पर भक्ति नहीं रह सकती। परमात्मा की भक्ति और विषय-वासना एक साथ कैसे निभ सकती है?

परमात्मा का सच्चा भक्त वही है जिसने विषय-वासना का निरोध कर दिया है। परमात्मा की भक्ति की अभिलाषा रखने वाले के लिए ऐसे व्यक्ति का संसर्ग भी त्याज्य है, जो विषय-वासना को प्रधानता देता है।

आत्मौपम्य और प्रार्थना

जो योगी या परमयोगी कहलाने वाला पुरुष ध्यान-मौन में परायण होकर आत्मा-परमात्मा का ध्यान नहीं करता, वह संसार में भार-रूप है। संसार के जीवों में साम्य भाव हुए बिना कोई योगी नहीं कहला सकता। वही सच्चा योगी है जो प्राणी-मात्र को अपने समान समझता है, उन्हें आत्मौपम्य बुद्धि से देखता है। जैसा मैं हूँ वैसे ही और भी प्राणी हैं, इस प्रकार का अनुभव करके जो दूसरे के सुख-दुःख को अपने ही समान समझता है और सबके प्रति समभाव-पूर्वक व्यवहार करता है, अर्थात जिस बात से मुझे दुःख होता है, उससे अन्य प्राणियों को भी दुःख होता है, दुःख जैसे मुझे अप्रिय है वैसे ही औरों को भी अप्रिय है, जैसे मुझे सुख की अभिलाषा है, उसी प्रकार अन्य जीव भी सुख के ही अभिलाषी हैं, इस प्रकार आत्मौपम्य-बुद्धि से समस्त प्राणियों को देखने वाला और ऐसा ही व्यवहार करने वाला सच्चा योगी है।

यह कथन जैन दर्शन का ही नहीं है किन्तु अन्य दार्शनिकों का भी यही कथन है। गीता में कहा है—

> आत्मौपम्येन सर्वत्र, समं पश्यति योऽर्जुन!
> सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः ॥
>
> अध्याय ६. ३२.

प्रार्थना और समभाव

समभाव वाले और विषम भाव वाले पुरुष के कार्यों में कितना अन्तर रहता है, यह बात संसार में सर्वत्र ही देखी जा सकती है। सम्यक्-दृष्टि जीव भी खाना पीना, विवाह आदि कार्य करता है और मिथ्यादृष्टि भी यह सब करता है। लेकिन

दोनों के कार्यों की भाव-भूमिका में महान् अन्तर होता है। समभाव से अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। उसका आस्वाद वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह सिर्फ अनुभव की वस्तु है और अनुभव करने वाले ही उसे पहचानते हैं। जिसके हृदय में समभाव जागृत हो जाता है उसे किसी प्रकार की हानि नहीं उठानी पड़ती।

मित्रो! ईश्वर की प्रार्थना से समभाव पैदा होता है और समभाव ही मोक्ष का द्वार है। ऐसा समझकर अगर आप अपने अन्तःकरण में समभाव धारण करेंगे तो आपका परम कल्याण होगा।

प्रार्थना और लौकिक कामना

जगत् में आशाएँ इतनी अधिक हैं कि उनका अन्त नहीं आ सकता। शास्त्र में कहा है—

इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया।

अर्थात् आशा—तृष्णा आकाश के समान अनन्त है। तृष्णा का कहीं अन्त नहीं है। ऐसी स्थिति में तृष्णा की पूर्ति के लिए उद्योग करना आकाश को नापने के समान निष्फल चेष्टा है। ऐसा जान कर ज्ञानी पुरुष आशाओं की पूर्त्ति करने के लिए परमात्मा की प्रार्थना नहीं करते, वरन् आशा का नाश करने के लिए नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं।

इसी भाव से परमात्मा की प्रार्थना करना उचित है। अगर तुम आशा को नाश करने के बदले सांसारिक पदार्थों—धन, पुत्र, स्त्री आदि के लिए प्रार्थना करोगे तो संसार के पदार्थ तुम्हें लात मार कर चलते बनेंगे और तुम्हारी आशाएँ ज्यों की त्यों अधूरी ही रह जाएँगी। हाँ, अगर तुम आशा—तृष्णा को नष्ट करने के लिए—अन्तःकरण में पूर्ण निस्पृह वृत्ति जागृत करने के लिए ईश-प्रार्थना करोगे तो संसार के पदार्थ—जिनके तुम अधिकारी हो—तुम्हें मिलेंगे ही, साथ ही शांति का परम सुख भी प्राप्त होगा। अतएव आशा को नष्ट करने की एकमात्र आशा से परमात्मा की प्रार्थना करो।

आत्मा: परमात्मा

यह मत सोचो—ईश्वर तो कभी दिखता नहीं है, उससे प्रेम किस प्रकार किया जाय? अगर ईश्वर नहीं दिखता तो संसार के प्राणी तो दिखाई देते हैं न? जगत् का प्रत्येक प्राणी, कीड़ी से लगाकर कुंजर तक, समान है। इस तत्त्व पर विचार करोगे तो ईश्वर से प्रेम करने की बात असम्भव न लगेगी। ईश्वर नहीं दिखता न सही, संसार के प्राणियों की ओर देखो और उन्हें आत्म-तुल्य समझो। सोचो-

जैसा मैं हूँ, वैसे ही यह हैं। इस प्रकार इतर प्राणियों को अपने समान समझने से शनैः शनैः ईश्वर का साक्षात्कार होगा—परमात्मतत्त्व की उपलब्धि होगी—आत्मा स्वयं उस शुद्ध स्थिति पर पहुँच जायगा।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर का ध्यान करने से आत्मा स्वयं ईश्वर बन जाता है। पर जब तक ईश्वरत्व की अनुभूति नहीं होती तब तक प्राणियों को ही ईश्वर के स्थान पर आरोपित कर लो। संसार के प्राणियों को आत्मा के समान समझने से दृष्टि ऐसी निर्मल बन जायगी कि ईश्वर को भी देखने लगोगे और अन्त में स्वय ईश्वर बन जाओगे।

जगत् के इस विषमय वातावरण में यह उदार भावना किस प्रकार आ सकती है? किस उपाय से भूतल के एक कोने में रहने वाला मनुष्य, दूसरे कोने के निवासी प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई समझ सकता है?

इस प्रश्न का मेरे पास एक—केवल एक ही उत्तर है। वह यह है कि त्रिलोकीनाथ की विजय की भावना मे ही विश्व-शांति की भावना निहित है। इस प्रकार की व्यापक भावना त्रिलोकीनाथ की विजय चाहने से ही हो सकती है। त्रिलोकीनाथ परमात्मा की विजय चाहने से अन्तःकरण में एक प्रकार की विशालता-समभावना आती है। ऐसा चाहने वाला व्यक्ति सोचता है कि मेरा स्वामी त्रिलोकीनाथ है। संसार के समस्त प्राणी उनकी प्रजा हैं। जब मै त्रिलोकीनाथ की विजय चाहता हूँ तो उसकी प्रजा में से किसकी पराजय, किसका बुरा सोचूँ? मै जब त्रिलोकीनाथ की विजय चाहता हूँ तो उसे प्रसन्न करने के लिये उसकी समस्त प्रजा का भला चाहूँ। परमात्मा की विजय चाहने से इस प्रकार के विचार अन्तःकरण में उत्पन्न होते हैं और इन उदार विचारों से राग द्वेष का भाव क्षीण हो जाता है। जितने अंशों में विचारों की उदारता होगी उतने ही अंशों में राग-द्वेष की क्षीणता होगी और जितने अंशों में राग-द्वेष की क्षीणता होगी उतने ही अंशों में निराकुलता-शांति प्राप्त होगी। इस प्रकार विश्वशांति का मूल मंत्र है—परमात्मा की विजय की कामना करते रहना।

इस विजय-कामना की एक विशेषता यह भी है कि इसकी आराधना से सामूहिक जीवन के साथ-ही-साथ वैयक्तिक जीवन का भी विकास होता है। इस से सिर्फ राष्ट्र-या राष्ट्र-समूह ही लाभ नहीं उठा सकते वरन व्यक्ति भी अपना जीवन उदार समभावपूर्ण और शान्त बना सकते हैं।

स्वर्ण-अवसर

प्रथम तो परमात्मा के भजन करने का अवसर मिलना ही अत्यन्त कठिन है, तिस पर अनेक प्रकार की बाधाएँ सदैव ताकती रहती हैं और मौका मिलते ही उस अवसर को व्यर्थ बना डालती हैं। इस प्रकार मानव जीवन की यह घड़ियाँ

अनमोल हैं। यह घड़ियाँ परिमित हैं। संसार में कोई सदा जीवित नहीं रहा और न रहेगा ही। अतएव प्राप्त सुअवसर से लाभ उठा लेना प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष का कर्त्तव्य है। अतएव परम भाव से परमात्मा का स्मरण करो।

यह श्वासोच्छ्वास, जो चलता रहता है, समझो कि मेरा नहीं किन्तु परमात्मा का ही चलता है। इसे खाली मत जाने दो। प्रत्येक श्वास और उच्छ्वास में परमात्मा का स्मरण चलता रहने दो। इसके लिए सतत जागृत भाव की आवश्यकता है—चिर अभ्यास की अपेक्षा है। अगर शीघ्र ऐसा न हो सके, तो भी आदर्श यही अपने सामने रखो। आदर्श सामने रहेगा तो उसी ओर गति होगी, भले ही वह मंद हो।

जिस प्रकार सूर्य के सामने अंधकार नहीं रहता, इसी प्रकार परमात्मा से साक्षात्कार होने पर आत्मा में कोई भूल शेष नहीं रहती। किन्तु आपको और हमको अभी तक परमात्मा से साक्षात्कार नहीं हुआ है। हम लोग अभी इस पथ के पथिक हैं। इसलिए प्रार्थना करके हमें परमात्मा से साक्षात्कार करने का मार्ग तय करना है। प्रार्थना में अपने दुर्गुणों को छिपाना नहीं चाहिए किन्तु प्रकट करना चाहिए। ऐसा करने से आत्मा एक दिन परमात्मा से साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकेगा।

हे भाइयो! मेरा कहना मानते होओ तो मैं कहता हूँ कि दूसरे सब काम छोड़ कर परमात्मा का भजन करो। इसमें तनिक भी विलम्ब न करो। तुम्हारी इच्छा आत्मकल्याण करने की है और यह अवसर भी अनुकूल मिल गया है। कल्याण के साधन भी उपलब्ध हैं। फिर विलंब किस लिए करते हो? कौन जानता है यह अनुकूल दशा कब तक रहेगी?

भजन

परमात्मा से भेंट करने का सरल और सुगम मार्ग भजन है। यह मार्ग सभी के लिए उपयोगी है। चाहे कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी हो, पुरुष हो, या स्त्री हो, नीच हो या उच्च हो, धनवान हो या निर्धन हो, भजन का मार्ग सब के लिए खुला है। इस मार्ग में यह सब ऊपरी भेद मिट जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि परमात्मा का भजन क्या है? परमात्मा का नाम लेना ही भजन है या कुछ और? इसका उत्तर यह कि भगवान् का नाम लेना ही भजन है अवश्य, लेकिन भजन का खास अर्थ ईश्वरीय तत्त्व की उपासना करना है।

जीवन की कला को विकसित करने के लिए ईश्वर की प्रार्थना एक सफल साधन है। अगर आठ पहर-दिनरात ईश्वर की प्रार्थना हृदय में चलती रहे तो संसार दुःखप्रद नहीं हो सकता। यही नहीं, संसार के दुःख आत्म-जागृति के निमित्त बन कर कहेंगे—आत्मन्, तू अपने घर में क्यों नहीं चला जाता? इस

झंझट में काहे को पड़ा है ? प्रार्थना करने वाले को संसार के दुःख किस प्रकार जागृत कर देते हैं, यह बात प्रार्थना करने वाला ही जानता है। जो मनुष्य संसार के प्रपंचों में ही रचापचा है, उसे यह तथ्य मालूम नहीं हो सकता।

प्रार्थना और तर्क

प्रार्थना का विषय आध्यात्मिक है। इस आध्यात्मिक विचार के सामने तर्क-वितर्क का कोई मूल्य नहीं है। यह विश्वास का विषय है। हृदय की वस्तु का मस्तिष्क द्वारा निरीक्षण-परीक्षण नहीं किया जा सकता।

अन्त करण की प्रेरणा

जिस समय आम के वृक्ष में मंजरियाँ लगती हैं और उनकी सुगंध से आकृष्ट होकर भ्रमर उन पर मँडराते हैं, तब कोयल चुप रह सकेगी ? कोयल किसी के कहने से नहीं गाती। आम में मंजरी आने से उस पर जो मतवालापन सवार हो जाता है, उस मतवालेपन में वह बोले बिना नहीं रह सकती।

एक कवि कहता है—जिसके हृदय में भक्ति हो वही भक्ति की शक्ति को जान सकता है। केतकी और केवड़ा के फूलने पर भौंरे को गुंजार करने से कभी रोका जा सकता है ?

भ्रमर हमारे आपके लिए गुंजार नहीं करता। केतकी और केवड़ा के फूलने से उसमें एक प्रकार की मस्ती आ जाती है। उस मस्ती की अवस्था में गुंजार किये बिना वह अपने चित्त को शान्त कैसे रख सकता है ? इसी प्रकार वसन्त ऋतु आने पर, जब आम फूलों से सुसज्जित हो जाता है, तब कोयल से चुप नहीं रहा जा सकता। मेघ की गंभीर गर्जना होने पर मयूर बिना बोले कैसे रह सकता है।

पवन के चलने पर ध्वजा हिले बिना रह सकती है ? इसी प्रकार कवि कहता है—किन्तु मुझ से अगर कोई कहे कि तुम बोलो मत—चुप रहो, तो मेरे अन्तःकरण में भक्ति का जो उद्रेक हो रहा है, उस उद्रेक के कारण बिना बोले मुझ से कैसे रहा जा सकता है ?

वसन्त ऋतु के आने पर भी अगर कोयल नहीं बोलती तो उस में और कौवी में क्या अन्तर है ? केतकी के फूलने पर भी भ्रमर मतवाला होकर गुंजार नहीं करता तो भ्रमर में और दुर्गंध पर जाने वाली मक्खी में अन्तर ही क्या रहेगा ? कोयल वसन्त के आने पर और भ्रमर केतकी के कुसुमित होने पर भी न बोले—अगर उन्होंने वह अवसर गँवा दिया तो फिर कौनसा अवसर उन्हें मिलेगा, जब वे अपने कोयल और भ्रमर होने का परिचय देंगे ? अतएव कोयल में और भ्रमर में जब तक चैतन्य है, जब तक जीवन है, तब तक वे अवसर आने पर बोले बिना

नहीं रहेंगे । इसी प्रकार अगर मयूर में जीवन है, तो मेघ की गर्जना सुनकर उस से चुपचाप बैठा न रहा जायगा। अगर वह चुपचाप रहता है तो उस में और गीध में क्या अन्तर है ? मेघ की गर्जना सुनते ही मयूर के उर में जो प्रेम उमड़ता है वह गिद्ध के हृदय में नहीं उमड़ता।

तात्पर्य यह है कि वसन्त आदि अवसरों पर कोयल आदि के बोलने में निसर्ग की प्रेरणा है। निसर्ग की यह प्रेरणा इतनी बलवती होती है कि उसके आगे किसी की नहीं चलती। उसी प्रकार भक्त के अंतःकरण में भक्ति की आंतरिक प्रेरणा उत्पन्न होती है। उससे प्रेरित होकर भक्त मौन नहीं रह सकता।

जीवन का प्रत्येक क्षण—चौवीसों घंटे प्रार्थना करते-करते ही व्यतीत होने चाहिए। एक श्वास भी बिना प्रार्थना का—खाली नहीं जाना चाहिए। प्रार्थना में जिनका अखंड ध्यान वर्त्तता है उन्हें बारम्बार श्रद्धापूर्वक नमन है। हम लोगों में जब तक जीवन है, जब तक जीवन में उत्साह है, जब तक शक्ति है, यही भावना विद्यमान रहनी चाहिए कि हमारा अधिक से अधिक समय प्रार्थना करते—करते ही बीते।

भक्ति और अहंकार

जब तक अहंकार है, अभिमान है, तब तक भक्ति नहीं हो सकती। अहंकार की छाया में प्रेम का अंकुर नहीं उगता। अहंकार में अपने प्रति घना आकर्षण है, आग्रह है और प्रेम में घना उत्सर्ग चाहिए। दोनों भाव परस्पर विरोधी हैं। एक में मनुष्य अपने आपको पकड़ कर बैठता है, अपना आपा खोना नहीं चाहता और दूसरे में आपा खोना पड़ता है। इस स्थिति में अहंकार और प्रेम या भक्ति दोनों एक जगह कैसे रहेंगे ?

प्रार्थना और निर्मलता

काच पर प्रतिबिम्ब पड़े बिना नहीं रहता, इसी प्रकार भावप्रार्थना करने वाले प्रार्थी के निर्मल हृदय पर परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़े बिना नहीं रहता। जब स्वच्छ काच पर, देखने वाले का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब हृदय निर्मल होने पर चिदानन्द परमात्मा का प्रकाश हृदय पर क्यों नहीं पड़ेगा ? परमात्मा के प्रकाश को अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित करना ही प्रार्थना का साध्य है। इस साध्य के लिए आवश्यक, वल्कि अनिवार्य है—हृदय की निर्मलता। हृदय निर्मल न होगा तो प्रार्थना अपना साध्य कैसे साधन कर सकेगी ?

ईश्वरप्रेम और प्रार्थना

प्रार्थना, जीवन और प्राण का आधार है। प्रार्थना ही वह अनुपम साधन है, जिसके द्वारा प्राणी आनन्दधाम में स्वच्छन्द विचरण कर सकता है। जो प्रार्थना

प्राणरूप बन जाती है, वह भले ही सीधी-सादी भाषा में कही गई हो, ग्राम्य भाषा द्वारा की जाती हो या प्राकृत-संस्कृत भाषा द्वारा की जाती हो, प्रार्थना करने वाले को चाहे संगीत से परिचय हो या न हो, उसके स्वर में लालित्य हो अथवा न हो, वह प्रार्थना सदैव कल्याणकारिणी होगी।

प्रार्थना का सम्बन्ध भाषा से या जिह्वा से नहीं है। जिह्वास्पर्शी भाषा तो शुक भी बोल लेता है। मगर वह भाषा केवल प्रदर्शन की वस्तु है। निर्मल अन्तःकरण में भगवान् के प्रति उत्कृष्ट प्रीतिभावना जब प्रबल हो उठती है, तब स्वयंमेव जिह्वा स्तवन की भाषा का उच्चारण करने लगती है। स्तवन के उस उच्चारण में हृदय का रस मिला होना है। ऐसा स्तवन ही फलदायी होता है। प्रार्थना के विषय में जो प्रवचन किया जाता है उसका एक मात्र प्रयोजन भी यही है कि सर्वसाधारण के हृदय में प्रार्थना के प्रति प्रीति का भाव उत्पन्न हो जाय— प्रार्थना में अन्तःकरण का रस मिल जाय।

आत्मा के आवरणों का क्षय करके ईश्वर बनने का यह सीधा रास्ता है। परमात्मा से साक्षात्कार करने के अनेक उपाय बताये हैं, लेकिन सब से सरल मार्ग यही है कि आत्मा में परमात्मा के प्रति परिपूर्ण प्रेम जागृत हो जाय। यह प्रेम ऐसा होना चाहिए कि किसी भी परिस्थिति में ईश्वर का ध्यान खण्डित न होने पावे।

आत्मकल्याण के लिए गहन तत्त्वों का विचार भले ही किया जाय, पर ऐसा करना सब के लिए संभव नहीं है। तो क्या आत्मकल्याण का रास्ता सर्वसाधारण के लिए खुला नहीं है? अवश्य खुला है। सर्वसाधारण के लिए आत्मकल्याण का सरल मार्ग परमात्मा की प्रार्थना करना है। प्रार्थना की इस महिमा से आकृष्ट होकर, अनेक वर्षों से मुझे प्रार्थना करने की लगन लगी है। परमात्मा की प्रार्थना में मुझे अपूर्व आनन्द और अखण्ड शांति का शीतल एवं पवित्र झरना बहता जान पड़ता है।

प्रभु का स्मरण

परमात्मा के नाम का स्मरण पाप के फल से बचने के लिए करना चाहिए या पाप से बचने के लिए अथवा फल भोगने में धैर्य-प्राप्ति के लिए?

'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि।' कृत कर्मों से, उनका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। अतएव फल से बचने की कामना करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त कर्म करके उसके फल से बचने की कामना करना एक प्रकार की दीनता और कायरता है। अतएव नवीन कर्मों से बचने के लिए और पूर्वकृत कर्मों का समभाव के साथ फल भोगने की क्षमता प्राप्त करने के लिए ही भगवान् का स्मरण करना चाहिए।

वास्तव में जो जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं, वह परमात्मा के नाम का आश्रय लेकर दुःख से बचने की इच्छा नहीं करते किन्तु यह चाहते हैं—कि हे प्रभो! हम अपने पाप का फल भोगते समय व्याकुल न हों, हमें घबराहट न हो और धैर्य के साथ पाप का फल भोगें।

इस प्रकार कष्टों को सहन करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए परमात्मा का नाम स्मरण करोगे तो पाप का फल भोगने के पश्चात् पापमुक्त बन सकोगे और आत्मकल्याण साध सकोगे।

परमात्मा पर प्रतीति लाओ। भगवान् की भक्ति में प्रेम रक्खो और उनकी प्रार्थना करके उन्हें अपने हृदय में स्थापित करो। अगर तुमने मेरी इस बात पर ध्यान दिया, अगर तुमने अपना हृदय भगवान् का मंदिर बना लिया, तो शीघ्र ही एक दिव्य ज्योति तुम्हारे अन्तःकरण में उद्भूत होगी। उस ज्योति के सामने मैं तुच्छ हूँ। यही नहीं, वरन् मैं भी उसी ज्योति का उपासक हूँ। तुम भी उसी ज्योति की उपासना करो।

एक लक्ष्य पर पहुँचने के साधन या मार्ग अनेक होते हैं, पर सर्वसाधारण के लिए जो मार्ग अधिक सुविधाजनक हो वही उत्तम मार्ग है। आत्मशोधन के संबंध में भी यही बात है। आत्मशोधन के अनेक मार्गों में से भक्तिमार्ग पर प्रत्येक व्यक्ति चल सकता है। इस मार्ग पर जाने में क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या अशक्त, क्या स्त्री, क्या पुरुष, किसी को कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रत्येक प्राणी भक्ति के मार्ग पर चल सकता है और आत्मकल्याण की प्राप्ति कर सकता है।

४

प्रभु के प्रति

मार्मिक अभ्यर्थना

हे प्रभो ! मै ऊर्ध्वगति होना चाहता हूँ: प्रगति के महान् और अंतिम लक्ष्य की दिशा में निरंतर प्रयाण करने की कामना करता हूँ । मुझे वह शक्ति दीजिए, जिससे अधोगामी न बनूँ । विश्व के प्रलोभन मुझे किंचित् भी आकृष्ट न कर सकें। भगवन्, अगर आप मेरे कवच बन जाएँ तो मैं कितना भाग्यशाली होऊँगा !

हे प्रभो ! मेरे भीतर एक बड़ी दुर्बलता है । मै आपकी शक्ति को जानते हुए भी, आपकी गोद में रहते हुए भी, पाप पर विश्वास करके कभी-कभी पाप की गोद में चला जाता हूँ । भगवन्, मै तुझ से धन सम्पत्ति की याचना नहीं करता। मेरी एकमात्र यही याचना है की मेरा विश्वास, मेरी श्रद्धा, अन्यत्र न जाकर केवल तेरे ऊपर ही केन्द्रित रहे । मै तेरी ही आशा करूँ । अपनी श्रद्धा से कभी विचलित न होऊँ । तू दयालु है तू नीतिमान् है । मै तुझ से दुनियादारी की कोई चीज़ नहीं चाहता । अगर मै ऐसी कोई चीज़ चाहूँ तो समझना चाहिये मैंने तुझे पहिचान ही नहीं पाया है । प्रभो ! इतना वरदान दे कि कठिन कर्म के आ जाने से जीवात्मा जहाँ थक जाय, उस समय तू मेरी सहायता करना ।

रावण द्वारा हरण करने पर सीता के ऊपर कठिन कर्म आ पड़ा था । सुदर्शन सेठ पर भी वैसा ही विकट समय आ पड़ा था । युवती रानी. युवक सेठ और ऊपर से राज्य का प्रलोभन !

ऐसे अवसरों पर सहायता करने के लिए मै तुझ से प्रार्थना करता हूँ । इस प्रकार के प्रसंग उपस्थित होने पर मेरा मन मलीन न होने पाये । प्रभो! ऐसे मौके आने पर तू मेरे ऊपर ऐसी ही दृष्टि रखना जैसी कछुई अपने अंडों का पोषण करने के लिए उन पर रखती है । मुझे पाप से बचाना ।

हे प्रभो ! मेरे पाप का प्रायश्चित्त इस तरह होगा कि मै तेरे मार्ग में यदि फूल न बिखेर सकूँगा तो काँटे भी नहीं बिखेरूँगा । यही नहीं, तेरे मार्ग में बिखरे हुए काँटे बीनूँगा, भले ही वे काँटे किसी के ही बिखेरे हुए क्यों न हों ।

हे प्रभो ! मै तेरी शरण में आया हूँ । मेरे अपराधों की तरफ मत देखो । मुझे अपना-सा बना लो । मै अपने अपराधों का विचार करूँ तो तुम्हारे प्रति ऐसी प्रार्थना करने का साहस ही नहीं कर सकता । पर तुम्हारा अधमोद्धारक विरुद सुन कर मुझे आश्वासन मिला है और अपना सरीखा बना लेने की प्रार्थना की है।

हे प्रभो ! तेरा सहारा लेकर बड़े से बड़े पापी भी तिर गये हैं, ऐसा मैंने

आगम द्वारा सुना है। आगम को प्रमाण मानकर मै ऐसी प्रार्थना करता हूँ—'हे प्रभो! शरणागत की रक्षा कर। शरणागत की रक्षा करने से ही तेरे विरुद की रक्षा होगी।

हे प्रभो! मैं भागकर तेरे चरण-शरण में आया हूँ। इन विकार-विषधरों से मुझे बचा। मेरी रक्षा कर। विकार रूप विष उतार कर मेरा उद्धार कर!

हे प्रभो! मुझ में बहुतेरी अपूर्णताएँ हैं। मुझ में असीम अशक्ति है, असंख्य दुर्गुण हैं। किन्तु तुम्हारे शरण में आने से अपूर्णता, अशक्ति और अवगुण दूर हट जाएँगे, इस विश्वास के साथ ही तेरी शरण में आ पड़ा हूँ। सूर्य का प्रकाश होने पर अंधकार नहीं रह सकता। प्रभो, शरणागत की रक्षा कर।

'हे परमात्मा! जब तक मुझ में अपूर्णता विद्यमान है तब तक मुझे आपके चरणों की नौका का आश्रय मिलना चाहिए। आपकी चरण-नौका का आधार पाकर मैं संसार-सागर से पार पहुँचना चाहता हूँ।

हे प्रभो! जब दुष्ट अपने दल-बल के साथ मुझे चहुँ ओर से घेर लें और अपनी तलवार से मेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालने को उद्यत हों, तब भी मेरी भावना यही बनी रहे कि यह दुष्ट लोग नहीं वरन् परमात्मा की कृपा प्राप्त कराने वाले सहायक मित्र हैं। भगवान्, मेरी यह भावना टिकी रहे, इसमें शिथिलता न आने पावे, तो वह दुष्ट भी मेरे लिए शत्रु के बदले मित्र बन जाएँगे।

अतएव हे प्रभो! मै ऐसी भावना करता हूँ कि मेरी प्रार्थना ऐसी आदर्श होनी चाहिए कि शत्रु भले ही मुझे मारने आवे, मगर मेरे अन्तःकरण में क्रोध या विद्वेष का लेश भी जागृत न हो। मैं उसे अपना मित्र मान सकूँ।

हे प्रभो! मेरी आशा अभिलाषा ऐसी है कि तुम्हीं उसे पूर्ण कर सकते हो। तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई उसे पूर्ण नहीं कर सकता। इसलिए मैंने तुम्हारी शरण ली है। तू ही मेरी आशा पूरी कर सकता है। पुत्र की आशा तो स्त्री भी पूरी कर सकती है। उसके लिए तुम्हारा शरण ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है? मै तुम्हारे प्रति ऐसी ही आशा करता हूँ कि जिसकी पूर्ति किसी और से हो ही नहीं सकती। मैने तुम्हारा स्वरूप जानकर तुम्हें हृदय मे बसाया है और अपने हृदय को तुम्हारा मन्दिर समझने लगा हूँ। पर जब मैने अपने हृदय की परीक्षा की तो अत्यधिक निराशा हुई है। मैने देखा कि मेरे हृदय में अनेक चोर घुसे हैं। उन्हें

निकाल भगाना बहुत कठिन जान पड़ता है. क्योंकि वे न तो मेरी प्रार्थना ही मानते हैं, न आज्ञा ही मानते हैं।

तम लोभ मोह अहकारा, मद क्रोध मोह रिपु मारा।
अति करहिं उपद्रव नाथा, मर्दहिं मोहि जान अनाथा॥

हे प्रभो! यह चोर मेरे हृदय पर अधिकार करके घुसे हैं। बहुत-बहुत यत्न करने पर भी ये नहीं निकलते। हे प्रभो! मेरे हृदय की ओर नज़र करो, जिससे तुम्हारी नज़र पड़ते ही यह चोर भाग जाएं।

हे प्रभो! मुझे यह शक्ति प्रदान कर कि अगर मै सत्य के मार्ग पर होऊँ तो भले ही कोई राजा नाराज़ होकर मुझे कारागार में बन्द कर दे, भले ही मुझ पर कष्टों की वर्षा करे; पर मै अपने पथ से विचलित न होऊँ और उसका उपकार मानूँ। मैं यह समझूँ कि कष्ट देने वाले नें मुझे शांति प्रदान की है, मेरा उपकार किया है। मैने आत्मदशा का जो अनुभव अब तक नहीं किया था, उस अमूल्य अनुभव का उसने सुअवसर दिया है!

हे प्रभो! मै आप से यह प्रार्थना करता हूँ कि किसी भी उपाय से मेरा मन विषयों से बाहर निकले। विषयों का जाल बहुत भयंकर है। उसमें फँसने वाला अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से वंचित हो जाता है। इस लिए हे प्रभो! तू ही मुझे इस जाल से बचा सकता है। मुझ पर दया कर। मुझे बचा। मेरी रक्षा कर।

हे प्रभो! अनन्त शक्ति का धनी यह आत्मा-डाकिन शाकिन, भूत पिशाच आदि से भयभीत होकर इधर उधर भटकता है: पर मुझे विश्वास है कि आपके शरण में आने से कल्पना के यह भूत क्षण भर भी नहीं टिक सकते। अगर कोई देव भयानक पिशाच का रूप धारण करके, हाथ में तलवार लेकर मुझे डराना चाहेगा तो भी मै डरूँगा नहीं। मैं उसे भी अपना उपकारक समझूंगा और मानूँगा कि वह मेरी परीक्षा ले रहा है। यह तेरे शरण की ही बलिहारी है।

हे प्रभो! अनादि काल से मैंने अपरिमित दुःख सहन किये हैं। उन दुखों का कहीं पार नहीं है। इसलिए मुझे दुःख सहने का अभ्यास सा हो गया है। अब मुझे अपनी चिन्ता इतनी अधिक नहीं है। मगर तुम्हारे विरुद की चिन्ता अवश्य है। तुम दीनदयाल पतितपावन और जगद्बन्धु आदि कहलाते हो। मेरे कष्ट भुगतने से कहीं तुम्हारी इस विरुदावली को धक्का न लगे। अतएव हे नाथ!

मेरे दुःखों का अन्त करो। तुम्हारा तनिक-सा कृपाकटाक्ष ही मेरे दुःखों का नाश करने के लिए पर्याप्त है।

हे प्रभो ! यदि तेरा तेज मेरे हृदय पर प्रतिबिम्बित हो जाय तो मैं अनन्त शक्तिशाली बन सकता हूँ और मेरी समस्त सांसारिक वासना शांत हो सकती है। अतः हे भगवन् ! अपने अनंत तेज की कुछ किरणें इधर फेंक दो, जिससे मोह-ममता के तिमिर से आवृत मेरा अन्तःकरण उद्भासित हो जाए।

हे प्रभो ! तीन लोक के समस्त पदार्थों में मुझे तू ही प्यारा लगता है। तू मुझे प्राणों के समान प्यारा है। संसार में सब से सन्निकट वस्तु प्राण है। इस-लिए प्राण के समान कोई दूसरी वस्तु प्रिय नहीं है। भले ही किसी को कोई वस्तु बहुत प्यारी लगती हो, पर प्राण उससे भी अधिक प्यारे होते हैं।

हे प्रभो ! तू मेरे लिए प्राणों का भी प्राण है, इसलिए प्राणों से भी अधिक प्रिय है।

हे प्रभो ! मुझ में समुद्र जितने पाप भरे हुए हैं। मेरे इन पापों में से एक बूंद के बराबर पाप भी अगर कोई प्रकट कर देता है तो मैं उससे द्वेष करता हूँ—झगड़ता हूँ। इसके विपरीत, दूसरे के सुमेरु समान गुणों को मैं रज-कण के बरा-बर मानता हूँ। मैं उनकी निन्दा करने से भी बाज़ नहीं आता। प्रभो ! ऐसा मैं पापी हूँ। ऐसी दशा में तेरी प्रार्थना करने का अधिकार मुझे है ?

हे प्रभो ! तेरा रूप, तेरी सत्ता और तेरी शक्ति अनन्त है। तेरे अनन्त सामर्थ्य का वर्णन करना मेरे लिए असंभव है। परन्तु मुझे जो साधन प्राप्त हैं उन सब का उपयोग करके मैं अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहता हूँ। हे अनन्त गुणों के धाम ! तेरी महिमा का वर्णन करना संभव नहीं है, अतएव मैं तुझे भक्तिपूर्वक नमस्कार करके ही संतोष मानता हूँ।

हे प्रभो ! मैं कर्मों के अधीन होकर संसार में भ्रमण कर रहा हूँ। मैं स्वरूप से तेरे जैसा होता हुआ भी भिखारी बन रहा हूँ। यह मेरी भूल है। मेरी यह भूल दूर हो जाय, बस यही तेरे प्रति मेरी अभ्यर्थना है।

हे प्रभो ! मैं संसार-सागर में डूब रहा हूँ। तू मेरा हाथ पकड़ कर बाहर निकाल। तेरे सिवाय संसार-सागर से बाहर निकालने वाला कौन है ? तू ही एक

मात्र सहारा है। देव ! इसलिए तेरी ही शरण में आया हूँ।

हे प्रभो ! संसार की कामना मेरा हाथ पकड़ कर मुझे अपनी ओर खेंच रही है। इस कामना से वचने के लिए तेरे शरण में आना ही एक मात्र उपाय है। प्रभो ! अगर तू मुझे अपने शरण में लेकर मेरा बांह पकड़ ले तो सांसारिक कामना तुझसे डरकर मेरा पल्ला छोड़ देगी। इसलिए इस कामना के फन्दे से छुड़ाने के लिए मेरी बाँह पकड़। मुझे अपने शरण में ले।

५

धर्म-विचार ।

आज कुछ लोगों को धर्म अनावश्यक एवं भाररूप प्रतीत होने लगा है। किन्तु यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि उन्होंने धर्म के ठीक ठीक स्वरूप को समझा नहीं है। वास्तव में धर्म के बिना जीवन भी नहीं टिक सकता। आज के युवक सुधार करना चाहते हैं, पर धर्म की सहायता के बिना सुधार होना संभव नहीं है। प्रत्येक क्षेत्र में धर्म की आवश्यकता है।

आज धर्म को भार रूप मानने का एक कारण यह भी है कि लोग धर्म का फल रुपये की भाँति तत्काल और प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं। वह यह दलील देते हैं कि धर्म का फल यदि परलोक में मिलता है तो उससे हमें क्या लाभ? यहाँ जैसे एक रुपये का सच्चा रुपया दिया जा सकता है और उससे आनन्दोपभोग किया जा सकता है, इसी प्रकार का लाभ यदि धर्म से भी मिले तो उसे लाभ कहना चाहिए अन्यथा वह निरा भार ही है। इस प्रकार धर्म को लोग भारस्वरूप समझते हैं किन्तु यह विचारने का कष्ट नहीं उठाते कि जीवन में धर्म का उपक्रम किए बिना तो मनुष्य का जीवन ही संस्कारहीन बन जायगा। किसी मनुष्य से शरीर पर कपास लपेटने के लिए कहा जाय तो वह उसे स्वीकार नहीं करेगा। किन्तु उसी कपास का संस्कार-उपक्रम कर दिया जाय—अर्थात् कपास से रूई ओंट कर, सूत बनाकर, कपड़ा बना दिया जाय और उसे सुन्दर रूप में सिला दिया जाय तो वही कपास शरीर पर धारण किया जा सकता है। इसी प्रकार बालक का जन्म होने पर संस्कार-उपक्रम न किया जाय तो उसका जीवन कच्चे कपास की तरह असंस्कारी ही बना रहेगा। ज्ञानीजन कहते हैं कि राग के समान कोई जुल्मी नहीं है। कितनेक लोग, माता-पिता, कहला कर फूले नहीं समाते, किन्तु राग के वश होकर अपने बालकों को ऐसे संस्कारहीन कर देते हैं कि आगे चलकर वे ही बालक भारस्वरूप जान पड़ने लगते हैं। कच्चे कपास की तो थोड़ी बहुत कीमत उपजती है किन्तु संस्कार-हीन संतान को तो संसार में कोई टके सेर भी नहीं पूछता। इस प्रकार धर्म का उपक्रम किए बिना जीवन का सुधार नहीं हो सकता। धर्म मानव-जीवन का सार है।

धर्म के नाम पर

जहाँ धर्म के नाम पर खून-खराबी हो, वहाँ यही समझना चाहिए कि धर्म के नाम पर ढोंग प्रचलित है। सच्चा धर्म अहिंसा और सत्य आदि है। अहिंसा के कारण कहीं खून-खच्चर नहीं हो सकता। इसके पालन में भी कहीं किसी का मत-भेद नहीं है। सच तो यही है कि लोगों के हृदय विकार से भरे हुए हैं और जब उन्हें कोई दूसरा आधार नहीं मिलता तब वे धर्म के नाम पर सिर-फुटौवल मचाने लगते हैं। वास्तव में कोई भी धर्म परस्पर लड़ने-झगड़ने या दूसरे को दुःख देने की आज्ञा नहीं देता। ऐसा होने हुए भी दूसरों को दुःख देना धर्म-संबन्धी अज्ञानता को प्रकट करना है। इस प्रकार बुद्धि में विचित्रता को मिटाने के लिए परमात्मा की शरण में आओ। भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण में जाने पर बुद्धि की यह विचित्रता नष्ट हो जायेगी।

धर्म : एक ध्येय

धर्म के सम्बन्ध में अनेक महात्माओं ने धर्मग्रंथों द्वारा अपना-अपना मन्तव्य प्रकट किया है। यही नहीं, जगत् में जो-जो महान् पुरुष हो गये हैं, उन्होंने भी धर्म का ही उपदेश दिया है और धर्म का ही समर्थन किया है। यह लोकोत्तर पुरुष धर्म के कारण ही लोकोत्तर पुरुष के रूप में प्रसिद्ध हुए हैं।

इस अवसर्पिणी काल में उत्पन्न हुए तीर्थंकरों को हम लोग इसीलिए पूजते हैं कि उन्होंने धर्मजागृति की थी। धर्म का पथ निष्कंटक बनाने के लिए उन्होंने अपना मूल्यमय जीवन समर्पित कर दिया था। धर्मजागृति के लिए ही उन्होंने राजपाट और कुटुम्ब-परिवार का त्याग किया था। धर्म के लिए ही उन्होंने परि-ग्रह-उपसर्ग सहे थे और काम-शत्रु पर विजय प्राप्त की थी। तात्पर्य यह है कि जगत् के इतिहास में जितने लोकोत्तर महापुरुष हो गये हैं उन्होंने धर्मस्थापना, धर्मप्रचार एवं धर्मजागृति के लिए ही अपना जीवन उत्सर्ग किया है।

धर्मश्रद्धा का कारण

जब मिथ्यात्व का अन्त होता है तभी 'दर्शन' की आराधना हो सकती है। मिथ्यात्व की मौजूदगी में सम्यग्दर्शन की आराधना असंभव है। रोगी को, रोग की मौजूदगी में दिया हुआ पौष्टिक भोजन भी लाभदायक सिद्ध नहीं होता। यही नहीं प्रत्युत अपथ्य होने के कारण अहितकर होता है। अतएव भोजन को पथ्य एवं हितकर बनाने के लिए सर्वप्रथम शरीर में से रोग का हटाना आवश्यक है। इसी प्रकार जब तक आत्मा में मिथ्यात्व रूपी रोग विद्यमान है तब तक दर्शन की आराधना शक्य नहीं है। जब मिथ्यात्व का कारण मिट जाएगा तभी सम्यग्-दर्शन की आराधना हो सकेगी। मिथ्यात्व को हटाना और सम्यग्दर्शन की आरा-धना करना अपने हाथ की बात है। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया तथा लोभ न रहने से मिथ्यात्व भी नहीं रह सकता। इस प्रकार इस कषाय को दूर करने से मिथ्यात्व दूर हो जायगा। विशुद्ध दर्शन की आराधना करने वाले को शक्र भी धर्म से विचलित नहीं कर सकता। यही नहीं, जैसे अग्नि में घी की आहुति देने से अग्नि अधिकाधिक प्रज्वलित होती है उसी प्रकार धर्मश्रद्धा से विचलित करने के लिए किये गये समस्त प्रयत्न धर्मदृढ़ता के कारण बन जाते हैं।

धर्म पर दृढ़ता

सच्चा धर्म-श्रद्धालु पुरुष, किस प्रकार धर्म पर दृढ़ रहता है, यह जानना हो तो कामदेव श्रावक का चरित देखो। कामदेव श्रावक पर पिशाच-रूप-धारी देव कुपित हुआ। उसने कामदेव को बहुत से कटुक वचन कहे। पिशाच ने कहा—'हे अप्रार्थितप्रार्थी! तू अपना धर्म त्याग, अन्यथा अभी तुझे तलवार के

घाट उतार दूँगा।' यह सुनकर कामदेव सोचने लगा—पिशाच मुझे अप्रार्थित-प्रार्थी अर्थात् अनिष्ट को इष्ट मानने वाला कहकर संबोधित करता है, सो वह अपनी समझ के अनुसार ठीक कह रहा है। यह पिशाच है। धर्म इसे अनिष्ट जान पड़ता है, इसीलिए वह ऐसा कहता है। पर मैं धर्म को इच्छनीय, आदरणीय और अनुकरणीय मानता हूँ। मुझे क्यों बुरा मानना चाहिए? धर्म इसे अवांछनीय प्रतीत होता है, इसी कारण इसने ऐसा भयङ्कर रूप बनाया है! धर्म के अभाव में इसकी दशा कितनी दयनीय है?

कामदेव श्रावक अठारह करोड़ स्वर्ण-मोहरों का और अस्सी हजार गायों का स्वामी था। फिर भी उसमें ऐसी दृढ़ता एवं सहनशीलता थी। कामदेव अपनी दृढ़ता के कारण पिशाच से जरा भी भयभीत न हुआ। आखिर उसने पिशाच को भी देव रूप बना कर छोड़ा।

जब तुम्हारे अन्तःकरण में ऐसी दृढ़ता उत्पन्न हो तो समझना कि अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का तुमने नाश कर दिया है। और धर्म एवं संवेग तुम्हारे भीतर जीते-जागते विद्यमान हैं। तुम्हें जीवन में धर्म को मूर्त्त रूप देने का अवसर मिला है तो उसे सफल कर डालो। कल्याण करने का यही अपूर्व अवसर है।

धर्मज्ञान की न्यूनता

आज धर्ममार्ग में ज्ञान की न्यूनता देखी जाती है। तुम्हारे बालक श्रावककुल में जन्मे और उन्होंने व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया, परन्तु धार्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं किया—अर्थात् जीव-अजीव का भेद भी नहीं समझा, तो ज्ञान संबंधी यह कितनी बड़ी कमी है। अगर तुम प्रयत्न करो तो उनका व्यावहारिक ज्ञान ही आध्यात्मिक ज्ञान में परिणत हो सकता है।

कोरे व्यावहारिक ज्ञान से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। आत्मा के कल्याण के लिए आध्यात्मिक ज्ञान अपेक्षित है। अतएव अगर तुम अपने बालकों को शांति पहुँचाना चाहते हो—उनके भावी जीवन को शांत सुखी, संतोषमय और समग्र बनाना चाहते हो तो उनके लिए यथोचित अध्यात्मज्ञान का आयोजन करो। आध्यात्मिकज्ञान से ही आत्मा अपना कल्याण साधन कर सकता है—किया है और कर सकेगा। अतएव अपने बालकों के लिए धार्मिक ज्ञान की व्यवस्था करना माता-पिता का परम कर्त्तव्य है। धार्मिक ज्ञान, जीवन की अनिवार्य खुराक बनना चाहिए।

वीरों का धर्म

आज आपको चाहे यह कल्पना न आती हो, मगर सत्य यही है कि यह धर्म वीर क्षत्रियों का है। यह कायरों का धर्म नहीं है। वीर क्षत्रिय मस्तक न झुकाने

के लिए बड़े-बड़े संग्राम कर बैठे हैं। उनकी तलवारें म्यान में से बाहर निकल आती हैं। मस्तक न झुकाने के लिए महाराणा प्रताप अठारह वर्ष तक राजधानी छोड़कर जङ्गल-जङ्गल घूमते फिरे। उनकी महारानी पद्मावती को सामा का आटा तैयार करने के लिए अपने हाथ से चक्की चलानी पड़ी।

धर्म वीरता से निभता है। 'हमारे पूर्वज इस धर्म को मानते आये हैं या वंश-परम्परा से वन्दना-नमस्कार करते आये हैं, इसलिए हमें भी वन्दना-नमस्कार करना पड़ेगा' इस प्रकार की लाचारी से अगर आप धर्म को मानते हैं तो इस भावना को मै निर्बल भावना कहूँगा। निर्बल भावना एक प्रकार की दीनता है, लाचारी है और अशक्ति का चिह्न है। निर्बल भावना वाला पुरुष धर्म का पालन नहीं कर सकता। धर्म हृदय के प्रेम से पाला जाता है। सच्चा धर्म वही है जो अन्तरतम से उद्भूत होता है। जिस बाह्य क्रिया के साथ मन का मेल नहीं है, जो सिर्फ परम्परा का पालन करने के लिए की जाती है या प्रतिष्ठा के मोह से की जाती है, वह ठीक फल नहीं दे सकती।

अत्याचार सहना कायरता नहीं

तुम कह सकते हो—'चुपचाप गालियाँ सहन कर लेना और मारने वाले अत्याचारी के सामने भोली-भाली गौ बन जाना, उसका मुकाबिला न करना, एक प्रकार की कायरता है। क्या हमें कायर बन जाना चाहिए? कायर बन जाने से तो अत्याचारी का हौंसला बढ़ेगा और जगत् में अत्याचार का नङ्गा नाच होने लगेगा। इस प्रकार परोक्ष रूप से हम चुप्पी साधकर अत्याचार की उत्तेजना में सहायक हो जाएँगे।'

यह कथन वास्तव में भूल-भरा है! सहिष्णुता कायरता का चिह्न नहीं वरन् वीरता का फल है। उत्तेजना का प्रसंग उपस्थित होने पर अन्तःकरण की निर्बल वृत्तियों पर विजय प्राप्त करके स्वाभाविक शांति को सुरक्षित रख सकना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। अपने ऊपर संयम का अंकुश रखना विजेताओं का धर्म है। बाढ़ आने पर नदी के प्रवाह में सभी बह सकते हैं, पर अचल-अटल रहने वाले विरले ही होंगे। इसी प्रकार उत्तेजना की आग में जल मरने वाले संसार में बहुत हैं, और उस आग पर शांति का शीतल नीर छिड़कने वाले इने-गिने ही निकलेंगे। यह इने-गिने सत्त्वशाली पुरुष ही जगत् के पथ-प्रदर्शक होते हैं। इन्हीं पुरुषों के सहारे संसार को स्वर्ग बनाने वाले सद्गुण टिके हैं।

यह कहना कि चुपचाप अत्याचार सहने से अत्याचारी को उत्तेजना मिलती है और अत्याचार बढ़ते है, सर्वथा विपरीत धारणा है। अत्याचार से अत्याचार का सामना करने से अत्याचारों की परम्परा चल पड़ती है। जैसे रुधिर की शुद्धि रुधिर से नहीं हो सकती, उसी प्रकार अत्याचार से अत्याचार का शमन नहीं हो सकता। आग को ईंधन न मिले तो वह जल्दी बुझ सकती है। इसी प्रकार अत्याचार को अत्याचार का ईंधन न मिलने से वह शान्त हो जाता है।

साम्प्रदायिक भेदभाव

लोगों में साम्प्रदायिक भेदभाव इतना अधिक घुसा हुआ है कि उसने कदाग्रह का रूप धारण कर लिया है। इससे भक्ति का ह्रास हो रहा है। बहुत-से लोग सम्प्रदाय या पन्थ के नाम पर लड़कर खून-खराबी करने में आनन्द मानते हैं। संसार का कोई भी पन्थ इस प्रकार के आचरण का विधान नहीं करता। यही नहीं वरन् एक या दूसरे रूप में सभी पन्थ इसका विरोध करते हैं। अगर लोग अपने-अपने सम्प्रदाय की सुशिक्षाओं पर ही ध्यान दें तब भी उन्हें विदित हो जायगा कि वे अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिए जो व्यवहार दुरभिनिवेश के वश होकर करते हैं, उससे सम्प्रदाय की रक्षा नहीं होती, किन्तु उसका पतन होता है, उसकी जड़ खोखली बनती है। इस प्रकार वे अपने ही साम्प्रदाय के शत्रु बनते हैं। ऐसे लोग अपने पन्थ की प्रतिष्ठा को कलंकित करते हैं।

धर्म के लिए त्याग

प्रत्येक धर्मसेवक का कर्त्तव्य होता है और उसे यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस धर्म को उसने अपने गले का हार बनाया है, अपने आत्मा का आभूषण समझा है, जिस धर्म से अनन्त सुख और अक्षय शांति प्राप्त होने का उसे विश्वास है, उस धर्म के लिए किसी भी प्रिय से प्रिय वस्तु को न्योछावर करने से वह पीछे न हटे। जो धर्म को विशेष और सर्वाधिक कहता है, मगर धर्म के लिए किसी वस्तु का त्याग करने में संकोच करता है, समझना चाहिए कि उसने धर्म का महत्त्व नहीं समझा है।

धर्मप्रचार

कई लोग तलवार से धर्म का प्रचार करना चाहते हैं। यही क्यों, बल्कि इतिहास से पता चलता है कि ऐसे अनेक प्रयत्न किये भी गये हैं। कोई-कोई लोभ के जाल में फाँस कर गरीब लोगों को उनका धर्म छुड़ाकर अपने धर्म में दीक्षित करना चाहते हैं। आज भी इस प्रकार के प्रयत्न चालू हैं और बहुत से भारतीय लोभ के चंगुल में फँस कर विधर्मी बनते जा रहे हैं। लेकिन श्रावक कभी भूलकर भी इस प्रकार के कुत्सित प्रयास नहीं करता। वह न तो तलवार के जोर से किसी को अपने धर्म में सम्मिलित करता है, न प्रलोभन देकर ही। वह अधर्मी के प्रति करुणाशील बनकर, वत्सलता द्वारा अपने धर्म को प्रकाशित करता है। वह सेवा, दान, परोपकार आदि प्रशस्त आचरण के द्वारा अपने धर्म का उद्योत करता है।

हिंसा अगर अधर्म है तो हिंसक उपायों से किसी को धार्मिक कैसे बनाया जा सकता है? इसी प्रकार लोभ पाप है तो लोभ में फँसा कर दूसरे को धार्मिक नहीं वरन् पापी ही बनाया जा सकता है। अतएव श्रावक ऐसे तरीकों को व्यवहार में नहीं लाता।

धर्मनिष्ठ

धार्मिक व्यक्ति सदैव अपनी त्रुटियों पर निगाह रखता है और आत्मा में तनिक-सी त्रुटि नज़र आने पर यही कहता है कि मैं अधम हूँ। अगर मैंने पहले बुरे काम न किये होते, अगर मैंने परमात्मा से पूरी लौ लगाई होती, तो मुझ में तुच्छ पदार्थों के लिए दुःख की अनुभूति क्यों होती? निस्सार एवं जड़ पदार्थों के लिए क्यों मैं दुःख सहता? उनका वियोग होने पर शोक से संतप्त क्यों होता? इन पदार्थों के चले जाने पर मेरा क्या जाता है? मैं इनके लिए दुःखी क्यों बनूँ? मैं अपने आत्मिक साम्राज्य को भूलकर, बाहरी, विनश्वर और विपत्तिजनक राज्य की अभिलाषा क्यों करता? मुझ में यह सब निर्बलताएँ विद्यमान हैं। अतएव प्रकट है कि मैं अधम हूँ।

धर्म और धर्मभ्रम

आप धर्म को जीवों का कल्याण करने वाला प्रकट करके उसकी प्रशंसा करते हैं; मगर यदि धर्म का इतिहास देखा जाय तो प्रतीत होगा कि धर्म के कारण जो अत्याचार और जुल्म किये गये हैं, वैसे शायद ही अन्य किसी कारण किये गये हों। इतिहास स्पष्ट बतलाता है कि धर्म के कारण बड़े से बड़े अत्याचार और घोर से घोर अन्याय किये गये हैं। ऐसी स्थिति में जिस धर्म के कारण ऐसे अन्याय और अत्याचार किये जाते हैं, उस धर्म की जगत् को क्या आवश्यकता है? कितनेक लोग दो कदम आगे बढ़कर इन्हीं युक्तियों के आधार से यहाँ तक कहते नहीं हिचकते कि धर्म और ईश्वर का बहिष्कार कर देना चाहिए। उनका यह भी कथन है कि संसार में यदि ईश्वर और धर्म न होता तो अधिक आनन्द-मङ्गल होता। मगर ईश्वर और धर्म ने तो इतने जुल्म ढाये हैं कि इतिहास के पन्ने के पन्ने रक्त से रंगे हुए हैं। हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि के बीच धर्म के नाम पर बड़े-बड़े युद्ध लड़े गये हैं और खून खच्चर हुये हैं। धर्म के नाम पर ऐसे-ऐसे अनर्थ हुए सुने जाते हैं कि न पूछिए बात। इंग्लैण्ड में 'मेरी' नाम की एक रानी हो गई है। उसमें धर्म का इतना अभिनिवेश था कि कदाचित् कोई ईसाई धर्म के विरुद्ध जीभ खोलता तो वह उसे जिन्दा ही आग में होम देने में संकोच नहीं करती थी। औरंगजेब ने भी धर्म के नाम पर अमानुषिक अत्याचार किया था। इस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के अत्याचार, अन्याय, सितम, जुल्म किये गये हैं। धर्म के कारण ही रामचन्द्रजी को अयोध्या का राज्य त्याग करके वन में भटकना पड़ा था। धर्म के नाम पर ही रामचन्द्रजी ने सीता की अग्निपरीक्षा की थी। धर्म के कारण ही द्रौपदी को वनवास स्वीकार करना पड़ा था। धर्म की बदौलत ही पाण्डवों को तरह-तरह की तकलीफें झेलनी पड़ी थीं। धर्म के कारण ही नल-दमयन्ती को भी असह्य कष्ट सहन करने पड़े थे। इस प्रकार धर्म के कारण सब को कष्ट सहने पड़े हैं।

इस प्रकार धर्म की निन्दा करते हुए लोग कहते हैं कि धर्म ने दुनिया को बहुत कष्ट है। कुछ लोग इतने में ही संतोष न मानकर धर्म और ईश्वर के बहिष्कार का बीड़ा बड़े जोश के साथ उठा रहे हैं।

जो लोग धर्म और ईश्वर को इस प्रकार त्याज्य समझते हैं, उनसे जरा पूछा जाय कि—संसार में जो अन्याय, अत्याचार और जुल्म किया गया है, उसका वास्तविक कारण क्या है—धर्म, धर्मभ्रम या धर्मान्धता ? अगर इस प्रश्न पर शान्ति के साथ तटस्थभाव से विचार किया जाय तो धर्म और धर्मभ्रम का अन्तर स्पष्ट दिखाई देने लगेगा। धर्म के नाम पर प्रकट किये जाने वाले भूतकालीन और वर्त्तमानकालीन अत्याचार और जुल्म धर्मभ्रम या धर्मान्धता के कारण ही हुए और हो रहे हैं। धर्म तो सदा सर्वदा सर्वतोभद्र ही है। जहाँ धर्म है वहाँ अन्याय, अत्याचार पास ही नहीं फटक सकते। साथ ही जिस धर्म के नाम पर अन्याय एवं अत्याचार होता है वह धर्म ही नहीं है। वह या तो धर्मभ्रम है या धर्मान्धता है। शास्त्र स्पष्ट शब्दों में कहता है:—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।

अर्थात्—अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म सदा मंगलमय है—कल्याणकारी है। जो लोग जीवन में धर्म की अनावश्यकता महसूस करते हैं, उन्होंने या तो धर्म का स्वरूप नहीं समझा है या धर्मभ्रम को ही धर्म समझ लिया है।

धर्म और धर्मभ्रम में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। गधे को सिंह की चमड़ी पहना दी जाय तो गधा कुछ सिंह नहीं बन जायगा। भले ही सिंह-वेष-धारी गधा थोड़े समय के लिये अपने आपको सिंह के रूप में प्रकट करके खुश हो ले पर अन्त में तो गधा, गधा सिद्ध हुए विना रहने का नहीं ! इसी प्रकार धर्मभ्रम और धर्मान्धता को भले ही धर्म का चोगा पहना दिया जाय, लेकिन अन्त में धर्म-भ्रम का क्षय और धर्म की जय हुए विना नहीं रह सकती।

धर्म को धर्मभ्रम और धर्मभ्रम को धर्म मान लेने के कारण बड़ी गड़बड़ी मची है। सुवर्णकार मिट्टी में मिले स्वर्ण को ताप, कष और छेद के द्वारा मिट्टी से अलग निकालता है, इसी प्रकार विवेकी जनों को चाहिए कि वे धर्मभ्रम की मिट्टी में मिले हुए धर्म-स्वर्ण को ताप, कष और छेद के द्वारा अलग कर डालें। यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि मिट्टी, मिट्टी है और सोना, सोना है। लेकिन मिट्टी में मिले सोने को सच्चा सुवर्णकार ही अलग कर सकता है। इसी प्रकार धर्म, धर्म है और धर्मभ्रम, धर्मभ्रम है। मगर धर्मभ्रम में मिले धर्म को शोधने का कार्य सच्चे धर्मसंशोधक का है। धर्म जब धर्मभ्रम से पृथक् कर दिया जायगा तभी वह अपने उज्ज्वल रूप में दिखलाई देगा और तभी उसकी सच्ची कीमत आंकी जा सकेगी।

जीवन में धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, यहाँ तक कि धर्म के विना

जीवन-व्यवहार भी नहीं चल सकता। जो लोग धर्म की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते, उन्हें भी जीवन में धर्म का आश्रय लेना ही पड़ता है; क्योंकि धर्म का आश्रय लिए बिना जीवन-व्यवहार निभ ही नहीं सकता है। उदाहरणार्थ—पाँच और पाँच दस होते हैं, यह सत्य है और सत्य धर्म है। जिन्हें धर्म आवश्यक नहीं मालूम होता उन्हें यह सत्य भी अस्वीकार करना होगा। मगर क्या इसे स्वीकार किये बिना काम चल सकता है? मान लीजिए आपको कड़ाके की भूख लगी है। आपकी माता ने भोजन करने के लिए कहा। आप धर्म-विरोधी होने के कारण कहेंगे—'नहीं, मुझे भूख नहीं लगी है।' तो कब तक जीवन निभ सकेगा? धर्म के अभाव में एक श्वास लेना भी कठिन है। ऐसा होने पर भी धर्म की निन्दा की जाती है, उसका एक कारण है—धर्म के नाम पर होने वाली ठगाई!

बहुत से लोग धर्म के नाम पर दूसरों को ठगते हैं इसी कारण धर्मनिन्दकों को धर्म की निन्दा करने का मौका मिलता है। अतएव हम लोगों को (साधु-आर्याओं को) सदैव इस बात का खयाल रखना चाहिये कि हमारे किसी भी व्यवहार के कारण धर्म की निन्दा न होने पावे। साधु-साध्वियों के साथ ही आप—श्रावकों को भी अपने कर्त्तव्य का विचार करना चाहिए। धार्मिक कहलाते हुए भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में परधन या परनारी का अपहरण करना धर्म की निन्दा कराने के समान है। अगर आप धर्म की निंदा नहीं कराना चाहते तो एक भी कार्य ऐसा मत करो जिससे धर्म की निन्दा होती हो। धर्म की निंदा या प्रशंसा धर्मपालकों के धर्मपालन पर निर्भर करती है। हम और तुम अर्थात् साधु और श्रावक अगर दृढ़तापूर्वक अपने-अपने धर्म का पालन करें तो धर्मनिंदकों पर भी उसका असर हुए बिना नहीं रह सकता। एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब वह भी धर्म का माहात्म्य समझेंगे और धर्म की निंदा करने के बदले प्रशंसा करने लगेंगे।

पहले यह दलील दी गई है कि धर्म की बदौलत सिर पर संकट आते हैं। इसका संक्षेप में यही उत्तर दिया जा सकता है कि कष्ट तो धर्म की कसौटी है। हम में वास्तव में धर्म है या नहीं, इस बात की परीक्षा कष्ट आने पर ही होती है। धर्म के कारण जिन्होंने कष्ट उठाये हैं, उनसे पूछो कि धर्म के विषय में वह क्या कहते हैं? कदाचित् सीता से पूछा जाता—'रामचन्द्रजी ने तुम्हें अग्नि में प्रवेश करने के लिए विवश किया, तो अब रामचन्द्रजी तुम्हें प्रिय हैं या नहीं? तो सीता इस प्रश्न का क्या उत्तर देती? सीता कहती—रामचन्द्रजी ने मेरी अग्निपरीक्षा करके मेरे धर्म की कसौटी की है। धर्म के प्रताप से मैं अग्नि को शांत करूँ, धर्म की निन्दा दूर करके धर्म की महिमा का विस्तार करूँ, इसी में तो मेरे धर्म की सच्ची कसौटी है।

कहा जाता है कि धर्म के कारण ही रामचन्द्रजी को राज्य त्याग कर वनवास करना पड़ा था। मगर जिस धर्म के पालन के लिए रामचन्द्रजी को राज्य छोड़ना पड़ा था, वह धर्म उन्हें प्रिय लगा था या अप्रिय? अगर रामचन्द्रजी को

धर्म प्रिय लगा था तो दूसरों को राम के नाम पर धर्म की निंदा करने का क्या अधिकार है ?

नल-दमयन्ती और पाण्डवों वगैरह के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। नल-दमयन्ती और पाण्डव आदि—जिन्होंने कष्ट भोगे थे—जब धर्म को बुरा नहीं कहते तो फिर उनका नाम लेकर धर्म की निंदा करने का किसी गैर को क्या अधिकार है ? नल-दमयन्ती और पाण्डव वगैरह कष्टों को जब धर्म की कसौटी समझते थे, तो फिर इन्हीं का नाम लेकर धर्म को बदनाम करना कहाँ तक उचित है ! सत्य तो यह है कि धर्म किसी भी समय निन्दनीय नहीं गिना गया है ! धर्म सर्वदा सर्वतोभद्र है। अतएव धर्मभ्रम या धर्मान्धता को आगे लाकर धर्म की निन्दा करना किसी भी प्रकार समुचित नहीं है।

धर्म का सम्बन्ध सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के साथ है। जहाँ इनमें से एक भी नहीं है, वहाँ धर्मतत्त्व भी नहीं है। जहाँ यह रत्नत्रय हैं वहीं सच्चा धर्म है। धर्मभ्रम या धर्मान्धता तो स्पष्टतः धर्माभास है—अधर्म है। प्रजा को हैरान करना, परधन और परस्त्री का अपहरण करना तो साफ अधर्म है, फिर भले ही वह धर्म के नाम पर ही क्यों न प्रसिद्ध किया जाय।

धर्म तो इस विचार में है कि—मैं स्वयं तो असत्य बोलूँगा ही नहीं, अगर कोई दूसरा मुझ से असत्य बोलेगा तो भी मैं असत्य नहीं बोलूँगा। मैं स्वयं तो किसी की चीज़ का अपहरण करूँगा ही नहीं, अगर मेरी वस्तु का कोई अपहरण करेगा तो भी मैं यह विचार तक नहीं करूँगा कि मैं उसकी किसी वस्तु का अपहरण करूँ, उसका कुछ बिगाड़ करूँ। मैं किसी पर क्रोध भी नहीं करूँगा। मैं थप्पड़ का बदला थप्पड़ से नहीं, प्रेम से दूँगा। जिसके अन्तःकरण में धर्म का वास होगा, वह इस प्रकार का विचार करेगा। जो लोग धर्म के नाम पर थप्पड़ का बदला थप्पड़ से देते हैं अथवा परधन और पर स्त्री के अपहरण की चिन्ता में दिनरात डूबे रहते हैं वही लोग धर्म की निन्दा कराते हैं।

दूसरों की बात जाने दीजिए, सिर्फ आप अपनी आत्मा से प्रश्न कीजिए—'आत्मन् ! तू धर्म की प्रशंसा करवाती है या निन्दा ? अगर आप धर्म की प्रशंसा कराना चाहते हैं तो विचार कीजिए कि आपको कैसा व्यवहार करना चाहिए ? आप भूलकर भी कभी ऐसा व्यवहार मत कीजिए जिससे धर्म की निन्दा हो। इस प्रकार धर्मोदय का विचार करके सद्व्यवहार कीजिए। धर्म पर दृढ श्रद्धा रखने का परिणाम यह होता है कि साता वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले सुख के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और हृदय में यह भावना प्रबल होने लगती है कि मैं अपने सुख के लिए किसी और को दुःख नहीं पहुँचा सकता। मेरा धर्म ही दूसरों को सुख पहुँचाना है। इस तरह विचार करके धर्मश्रद्धालु व्यक्ति भोगों से विरक्त रहेगा और दूसरों के सुख के लिए आप कष्ट सहन करेगा।

भर्तृहरि ने कहा है कि दृढ़धर्मी सत्पुरुष पराये हित के लिए स्वयं कष्ट सहन करते है। लोग 'धर्म-धर्म' चिल्लाते हैं, मगर धर्म के इस मौखिक उच्चार से धर्म नहीं आ जाता। जीवन में धर्म मूर्त्त स्वरूप तभी धारण करता है जब अपने सुख का बलिदान करके दूसरों को सुख दिया जाता है और दूसरों को दुःख से बचाने के लिए सातावेदनीय के उदय से प्राप्त होने वाले सुखों का भी परित्याग कर दिया जाता है।

धार्मिक दृष्टि से, दूसरों से पैसा लेना अच्छा है या दूसरों को पैसा देना अच्छा है? यद्यपि इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जायगा कि पैसा देना अच्छा है—लेना नहीं, लेकिन इस उत्तर को व्यवहार में सक्रिय रूप दिया जाता है या नहीं, यह विचारणीय है। व्यवहार में तो हाय पैसा, हाय पैसा की ध्वनि ही सर्वत्र सुनाई पड़ती है। फिर भले ही दूसरों का कुछ भी हो—वे चाहे जीयें या मरें। जब इस प्रवृत्ति में परिवर्त्तन किया जाय और दूसरों के सुख में ही सुख मानने की भावना उद्भूत हो और अपने सुख के लिए दूसरे को दुःख देने की भावना बदल जाय, तब समझना चाहिए कि धर्मश्रद्धा का फल हमें प्राप्त हो गया है।

आज तो धर्म के विषय में यही समझा जाता है कि जिससे अष्टसिद्धि और नव निधि प्राप्त हो, वही धर्म है। अष्टसिद्धि और नवनिधि का मिलना ही धर्म का फल है। किन्तु शास्त्रकार जो बात बतलाते हैं, वह इससे विपरीत है। शास्त्रकारों का कथन यह है कि धर्मश्रद्धा का फल सातावेदनीय के उदय से प्राप्त होने वाले सुखों से विरक्त होना है।

अब आपको यह सोचना है कि आपको किस भावना से धर्म पर श्रद्धा रखना है? अगर आपको अपना ही सुख—सांसारिक सुख चाहिए तो यह तो दुनिया में चला आ रहा है; मगर इस चाह में धर्मश्रद्धा नहीं है। अगर आप धर्मश्रद्धा उत्पन्न करना चाहते हैं और धर्म का वास्तविक स्वरूप जानना चाहते हैं तो आपको सदैव यह उच्च भावना रखनी होगी कि मैं दूसरों को सुख देने में ही प्रयत्नशील रहूँ। इस प्रकार की उच्च भावना टिकाये रखिये और इस भावना को मूर्त्त स्वरूप देने के लिए सातावेदनीय के उदय से प्राप्त सुखों के प्रति उदासीन रहिए। अगर आपको यह भावना प्रिय लगती है तो उसे जीवन में व्यवहृत करने के लिए प्रभु के प्रति यह प्रार्थना करोः—

दयामय! ऐसी मति हो जाय!
भूले भटके उलटी मति के जो हैं जन-समुदाय,
उन्हें सुझाऊँ सच्चा सत्पथ निज सर्वस्व लगाय॥ दया०

अर्थात्—हे प्रभो! मेरी बुद्धि ऐसी निर्मल हो जाय कि मेरे हृदय में घृणा या तिरस्कार उत्पन्न न हो, वरन् ऐसा मैत्रीभाव पैदा हो कि अपना सर्वस्व लगाकर भी उसे सन्मार्ग पर लाऊँ और उसका कल्याण करूँ। दूसरे को सुधारने के लिए

अपना सर्वस्व होम देने वाले सत्पुरुषों के ज्वलन्त उदाहरण शास्त्र के पन्नों में लिखे हुए हैं।

अर्जुन माली महापापी और अधम था, लेकिन सुदर्शन सेठ ने उसका सुधार किया। शास्त्र में इस बात का तो कोई उल्लेख नहीं मिलता कि सुदर्शन सेठ ने अपना कल्याण किस प्रकार और किस समय किया, लेकिन अर्जुन माली के विषय का उल्लेख शास्त्र में अवश्य पाया जाता है। उसने उसी भव में अपनी आत्मा का कल्याण साध लिया। सुदर्शन सेठ ने अर्जुन माली के विषय में विचार किया—यह भान भूला हुआ है और इसी कारण दूसरों की हत्या करता है। ऐसे का सुधार करना ही तो मेरा धर्म है। इस प्रकार विचार कर अर्जुन माली को सुधारने के लिए आप ध्यानस्थ होकर बैठ गया। अर्जुन माली जब मुद्गर लेकर मारने आया तो सेठ ने विचार किया—अगर मुझ में सच्ची धर्मनिष्ठा हो तो अर्जुन के प्रति लेशमात्र भी द्वेष उत्पन्न हो।' इस प्रकार की उच्च भावना करके और अपने सर्वस्व का त्याग करके भी अर्जुन माली जैसे अधम का उसने उद्धार किया। हालांकि सुदर्शन का सर्वस्व नष्ट नहीं हो गया, फिर भी उसने अपनी ओर से तो त्याग कर ही दिया था। जिस सुदर्शन ने अर्जुन माली जैसे का उद्धार किया था, उसने गृहस्थ होते हुए भी परमात्मा से यही प्रार्थना की थी कि—हे प्रभो! मेरे अन्तःकरण में अर्जुन के प्रति तनिक भी द्वेष उत्पन्न न हो।' इसी सद्भावना के प्रताप से अर्जुन विनाशक के बदले उसका सेवक बन गया। सुदर्शन की सद्भावना ने अर्जुन माली जैसे नरघातक को भी सबका रक्षक बना दिया। क्या सद्भावना की यह विजय साधारण है?

जो सद्भावना आसुरी प्रकृति को भी दैवी बना सकती है. उस सद्भावना को अपने-अपने जीवन में प्रकाशित करो तो आपका कल्याण अवश्य होगा। जहाँ ऐसी सद्भावना है वहीं सच्ची धर्मश्रद्धा है। इस प्रकार सद्भावना धर्मश्रद्धा की कसौटी है। सच्ची धर्मश्रद्धा को अपने जीवन में जिसे प्राप्त करना है उसे दुर्भावना का त्याग कर इसी प्रकार की सद्भावना प्राप्त करनी चाहिए।

धर्म का फल

आज बहुत से लोग धर्म के फल के सम्बन्ध में गड़बड़ में पड़े हुए हैं। कुछ लोगों ने समझ रक्खा है कि धर्म का फल इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति अर्थात् सांसारिक ऋद्धि-सिद्धि आदि मिलना है। पुत्रहीन को पुत्र की प्राप्ति हो, निर्धन को धन प्राप्त हो, इसी प्रकार जिसे जिस वस्तु की अभिलाषा है उसे वह प्राप्त हो जाय तो समझना चाहिए कि धर्म का फल मिल गया! ऐसा होने पर ही धर्मश्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। जैसे भोजन करने से तत्काल भूख मिट जाती है, पानी पीने से प्यास बुझ जाती है, उसी प्रकार धर्म से भी आवश्यकता की पूर्ति हो तभी धर्म पर श्रद्धा जाग सकती है।

इस प्रकार धर्म से पुत्र-धन आदि की आशा रखने वालों से शास्त्रकार कहते हैं कि तुमने अभी धर्म तत्त्व समझा ही नहीं है। कुम्भार जब मिट्टी लेकर घड़ा बनाने बैठता है तब वह मिट्टी में से हाथी-घोड़ा निकलने की आशा नहीं रखता। जुलाहा सूत लेकर कपड़ा बुनने बैठता है तो सूत में से ताँबा-पीतल निकलने की आशा नहीं रखता। किसान बड़े परिश्रम से खेती करता है, मगर पौधों में से हीरा-मोती निकलने की आकांक्षा वह नहीं रखता। कुम्भार, जुलाहा और किसान भी ऐसी भूल नहीं करते तो धर्मात्मा कहलाने वाले लोग धर्म से पुत्र या धन की प्राप्ति की आशा किस प्रकार कर सकते हैं? यह बात तो कुम्भार भी जानता है कारण के अभाव से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। जो जिसका कारण ही नहीं, उससे वह कैसे पैदा होगा? स्त्रियाँ जब भात पकाती हैं तो क्या बर्त्तन में मोती पैदा हो जाने की बात सोचती हैं? ऐसा न सोचने का कारण यही है कि उन्हें पता है कि कारण होगा तो कार्य होगा, अन्यथा नही। इस प्रकार लोक में कारण के विरुद्ध कार्य की कोई इच्छा नहीं करता तो फिर धर्म के विषय में ही यह भूल क्यों हो रही है? जो धर्म संसार का कारण ही नहीं है उससे सांसारिक कार्य होने की इच्छा क्यों की जाती है?

तो फिर धर्मश्रद्धा का वास्तविक फल क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने बतलाया है कि—'धर्मश्रद्धा का फल संसार के पदार्थों के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है।' धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने पर सांसारिक पदार्थों के प्रति रही हुई रुचि हट हट जाती है—अरुचि उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति में संसार के भोग-विलास एवं भोगविलास के साधन सुखप्रद प्रतीत नहीं होते। लोग धर्मश्रद्धा के फलस्वरूप मोह या विकार की आशा रखते हैं, परन्तु शास्त्र कहता है कि धर्मश्रद्धा का फल सांसारिक पदार्थों के प्रति अरुचि जगाना है। कहाँ तो सांसारिक पदार्थों के प्रति निर्ममत्व और कहाँ सांसारिक पदार्थों की चाह! धर्म से इस प्रकार विपरीत फल की आशा रखना कहाँ तक उचित है?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आजकल धर्म की जो अवहेलना हो रही है, उसका एक कारण धर्म के स्वरूप को न समझना है। लोगों को यह भी पता नहीं कि धर्म किस कार्य का कारण है? धर्म संबन्धी इस अज्ञान के कारण ही धर्म से विपरीत फल की आशा की जाती है। जब विपरीत फल मिलता नहीं तो धर्म के प्रति अरुचि पैदा होती है।

हमारे अन्तःकरण में धर्मश्रद्धा है या नहीं, इस बात की परीक्षा करने का 'थर्मामीटर' सातावेदनीय के सुखों के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है। आप इस 'थर्मामीटर' द्वारा अपनी जाँच कीजिए कि वास्तव में आप में धर्मश्रद्धा है या नहीं। अगर आप में धर्मश्रद्धा होगी तो सातावेदनीय-जन्य सुखों के प्रति आपको अरुचि अवश्य होगी।

मान लीजिए, आप भोजन करने बैठे हैं। थाल परोसा हुआ आपके सामने

है। इसी समय आपका कोई विश्वासपात्र मित्र आकर यदि भोजन में विष मिला है इस बात की सूचना देता है तो क्या आपको वह भोजन खाने की रुचि होगी? नहीं। इसी प्रकार सच्ची धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने पर सातावेदनीय-जन्य सुखों के प्रति रुचि नहीं हो सकती। इस प्रकार जब सांसारिक विषयभोगों के प्रति विरक्ति हो तो समझना चाहिए कि मुझ में धर्मश्रद्धा है।

धर्म और विज्ञान

कहा जा सकता है कि, हम तो उसी को धर्म मानते हैं जो हमें अधिक से अधिक सुख प्रदान करे; सुखों के प्रति अरुचि उत्पन्न करने वाले को हम धर्म नहीं, अधर्म समझते हैं। उसे जीवन में किस प्रकार स्थान दिया जा सकता है? आपके कहे धर्म से तो कोई सुख नहीं मिलता। इसके विपरीत विज्ञान द्वारा सभी प्रकार के सुख सुलभ हो जाते हैं। विज्ञान ने मानव-समाज को कितना सुखी बना दिया है? जिस जगह पहुँचने में महीनों लगते थे, वहाँ अब कुछ ही घंटों में वायुयान द्वारा पहुँच सकते हैं। अमेरिका का गायन और भाषण घर बैठे-बैठे सुनना क्या शक्य था? लेकिन विज्ञान की कृपा से आज वह सभी के लिए सुलभ हो गया है। जिस सुख और सुविधा की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, वही सुख आज विज्ञान की बदौलत प्राप्त हो रहा है। ग्रामोफोन, टेलीग्राफ, बेतार का तार आदि वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा कितनी सुविधाएँ हो गई हैं? इस प्रकार विज्ञान ने मनुष्य-समाज के कितने दुःख दूर कर दिये हैं? जो विज्ञान हमें इतना सुख पहुँचा रहा है उसे ही क्यों न माना जाय? कुछ भी सुख न देने वाले बल्कि प्राप्त सुखों के प्रति अरुचि उत्पन्न करने वाले धर्म को मानने की अपेक्षा सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ देने वाले विज्ञान को ही उपास्य क्यों न माना जाय?

इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर बहुत से लोग धर्म की अपेक्षा विज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं। धर्म, वस्तु का स्वभाव है। अतएव जिस वस्तु में जो स्वभाव है, उचित कारण-कलाप मिलने पर अवश्य ही उसका प्राकट्य होता है। इस दृष्टि से विज्ञान को कौन नहीं मानता? परन्तु जो विज्ञान धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ और सकल सुखदाता माना जाता है, वह वास्तव में ही सुखदायक है या दुःखदायक? इस प्रश्न पर यहाँ विचार करना आवश्यक है। जिस विज्ञान ने जितनी सुख-सामग्री प्रस्तुत की है, उसी विज्ञान ने संहारक-सामग्री भी उतनी ही उत्पन्न की है। इस दृष्टि से गम्भीर विचार करने पर पता चलेगा कि विज्ञान की बदौलत सुख की अपेक्षा दुःख की ही वृद्धि हुई है। विज्ञान का जब इतना विकास नहीं हुआ था, तब राष्ट्र सुखी था या दुखी? विज्ञान ने मानवसमाज का रक्षण किया है या भक्षण? शांति प्रदान की है या अशांति? ऊपरी दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान ने सुख-साधन प्रदान किये हैं। मगर

विचारणीय तो यह है कि इन सुख-साधनों ने राष्ट्र को सुख पहुँचाया भी है या नहीं, बल्कि सुख के बदले दुःख तो नहीं पहुँचाया ? सावधानी से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि विज्ञान ने राष्ट्र को दुःख, दारिद्र्य और घोर अशांति की ही भेंट दी है।

विज्ञान की संहारक शक्ति के कारण कोई भी राष्ट्र आज सुखी, शांत या निर्भय नहीं है। सारा संसार आज भयग्रस्त और अशांत है। ऐसी स्थिति में, विज्ञान का साक्षात् फल देखते हुए भी विज्ञान को सुखदायक किस प्रकार कहा जा सकता है ? पहले जब कभी युद्ध होता था तो योद्धागण ही तलवारों से आपस में लड़ते थे। लड़ने के उद्देश्य से जो सामने आता, उसी पर तलवार का प्रहार किया जाता था। मगर आज विज्ञान के अनुग्रह से युद्ध में भाग लेने वाले और शांति से घर बैठे हुए लोग भी बमों के शिकार बनाये जाते हैं ! बमगोलों की मार से अबीसीनिया और चीन देश के हजारों, लाखों नागरिकों को जान-माल से हाथ धोना पड़ा है। विज्ञान की बदौलत वहाँ अमानुषिक और रोमांचकारी अत्याचार किये जा रहे हैं और विनाश का तांडव नृत्य हो रहा है ! यह विज्ञान का आविष्कार है ?* एक सज्जन ने मुझे बतलाया था कि एक ग्लास पानी में विशेष प्रकार की वैज्ञानिक क्रिया-विक्रिया करने से ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो सम्पूर्ण लन्दन नगरी को थोड़ी ही देर में नष्टप्राय कर सकती है। जिस नगरी में लाखों की आबादी है और जो संसार की सबसे विशाल नगरी कहलाती है, उसे कुछ ही देर में नष्ट कर डालने की यह योजना विज्ञान की ही है ! यह है विज्ञान की अनुपम देन !

आज जिन पाश्चात्य या पौर्वात्य देशों में विज्ञान का अधिक प्रचार है, वह देश क्या युद्ध के चक्कर में नहीं फँसे हैं ? आज सारा यूरोप—जर्मनी, इंग्लैण्ड, इटली, फ्रान्स, स्पेन आदि देश तथा एशिया-रसिया, जापान आदि देश विज्ञान के बल पर युद्ध करके राज्यलिप्सा को तृप्त करना चाहते हैं। इस कुत्सित लिप्सा के कारण ही मानव-सृष्टि के शीघ्र संहार की शोध आज विज्ञान कर रहा है। इस प्रकार विज्ञान ही मानव-समाज की संस्कृति का विनाश करने के लिए सब से अधिक उत्तरदायी है।

इस प्रकार आज विज्ञान का दुरुपयोग किया जा रहा है। अगर विज्ञान का सदुपयोग किया जाय तो वह धर्म और संस्कृति की रक्षा करने में अच्छा सहायक बन सकता है। प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग भी होता है और दुरुपयोग भी होता है, यह एक सामान्य नियम है। किन्तु प्रायः देखा जाता है कि सदुपयोग बहुत

*इस व्याख्यान के पश्चात् विश्वव्यापी महायुद्ध का जो प्रचण्ड तांडव हुआ है, उससे विज्ञान के कटुक फल खूब साफ मालूम होने लगे हैं। पूज्य श्री का यह व्याख्यान तो महायुद्ध के पहले का है।

कम मात्रा में होता है और दुरुपयोग अधिक मात्रा में। यही कारण है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण वस्तु से विकास की अपेक्षा विनाश ही अधिक होता है। विज्ञान का अगर सदुपयोग किया जाय तो उससे मानव समाज का बहुत कुछ कल्याण-साधन किया जा सकता है।* आज तो विज्ञान, धर्म और संस्कृति के ह्रास का ही कारण बना हुआ है।

संसार में धर्म न होता दुनियां में कितना भयंकर हत्याकांड मच रहा होता, यह कल्पना भी दुःखदायक प्रतीत होती है। मानव-संस्कृति के होने वाले इस विनाश को केवल धर्म ही रोक सकता है। धर्म के अमोघ अस्त्र द्वारा-अहिंसा द्वारा ही यह हिंसाकाण्ड अटकाया जा सकता है! धर्म के अतिरिक्त एक भी ऐसा साधन दिखाई नहीं देता जो मानव-संस्कृति का सत्यानाश करने के लिए पूरे जोश के साथ बढ़े चले आने वाले विष के वेग को रोक सकता हो। जो धर्म आज दुःखरूप और जीवन के लिए अनावश्यक माना जाता है, वही धर्म वास्तव में सुखरूप और जीवन के लिए आवश्यक है। साथ ही. जो विज्ञान आज सुखरूप और जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है वही विज्ञान वास्तव में दुःखरूप और जीवन के लिए अनावश्यक है। यह सत्य आज नहीं तो निकट भविष्य में सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा। आज समझाने से भले ही समझ में न आवे, मगर समय आप ही समझा देगा।

धर्म और विज्ञान पर विवेकपूर्ण दृष्टि के साथ विचार किया जाय तो धर्म की महत्ता समझ में आये बिना नहीं रहेगी। जो लोग निष्पक्ष दृष्टि से देख सकते हैं और विज्ञान के कटुक फलों का विचार कर सकते हैं, उन्हें 'धम्मो मंगलं' अर्थात् धर्म मंगलकारी है, यह सत्य समझते देर नहीं लग सकती।

प्राचीन काल में वायुयान, टेलीफोन, बेतार का तार आदि वैज्ञानिक साधन नहीं थे। फिर भी प्राचीन काल के लोग अधिक सुखी थे या वैज्ञानिक साधनों वाले इस समय के लोग सुखी हैं? उस समय अधिक शांति थी या इस समय अधिक शांति है? वैज्ञानिक साधन न होने पर भी प्राचीन काल का मनुष्य—समाज अधिक सुख

---

* आचार्य श्री का आशय यह है कि—विज्ञान का सदुपयोग होना उसी समय सम्भव है, जब धर्मभावना की प्रधानता हो और धर्म ही विज्ञान का पथ-प्रदर्शन करता हो। आज के वैज्ञानिक इस तथ्य को भूले हुए है। उन्होंने धर्म को नाचीज़ मानकर विज्ञान को ही सृष्टि का एकमात्र सम्राट् बनाने की चेष्टा की है। इसी कारण विज्ञान, विनाश का सहचर बन गया है। जब धर्म को नेतृत्व मिलेगा और विज्ञान उसका अनुचर बनेगा, तभी वह विश्वकल्याण का साधन बन सकेगा। धर्म जहाँ नेता होगा, वहाँ विज्ञान के द्वारा किसी का विनाश होना सम्भव नहीं, अन्याय और अत्याचार को अवकाश नहीं। धर्म के अभाव में विज्ञान मनुष्यसमाज के लिए विष ही बना रहेगा। धर्म का अनुचर बनकर वह अमृत बन सकता है। —संपादक

और शांति भोगता था। यह किसके प्रतापसे? आज लोग विज्ञान पर ऐसे मुग्ध हो रहे हैं कि उन्हें धर्म का नाम तक नहीं सुहाता। इसका एकमात्र कारण लोगों की मोहावस्था ही है। विज्ञान की उन्नति को देखकर ज्ञानी जन प्रसन्न ही होते हैं। वह सोचते हैं कि पहले अधिकारपूर्वक नहीं बतलाया जा सकता था कि विज्ञान शांति का संहारक है। कदाचित् बतलाया जाता तो लोगों को इस कथन पर प्रतीति न होती। मगर आज हमें प्रमाणपूर्वक कहने का कारण मिला है कि आजकल विज्ञान का इतना विकास होने पर भी और वैज्ञानिक साधनों की प्रचुरता होने पर भी क्या मानव जीवन का अस्तित्व और सुखशांति सुरक्षित है? इस प्रकार आज हम धर्म का महत्त्व प्रमाणित करने में समर्थ हो सके हैं और प्रमाण-पुरः सर कह सकते हैं कि 'धर्म ही सच्चा मंगल है।' धर्म ही अशरण का शरण है। धर्म में ही मानव-समाज की सुखशांति सुरक्षित है।

धर्म श्रद्धा का फल

धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने से हृदय में सांसारिक पदार्थों के प्रति अरुचि और विरक्ति की उत्पत्ति होती है और विरक्ति उत्पन्न होने से अगारधर्म का त्याग कर अनगारधर्म स्वीकार किया जाता है। विरक्त पुरुष सांसारिक बन्धनों का त्याग कर देता है। धर्मश्रद्धा से वैराग्य होगा और वैराग्यवान् पुरुष अनगार बन जायगा। इस प्रकार धर्मश्रद्धा का फल तो अनगारित्ता को स्वीकार करना है। लेकिन आजकल तो कुछ लोगों को धर्म का नाम तक नहीं सुहाता। ऐसी स्थिति में यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि लोगों में धर्मश्रद्धा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिनमें धर्मश्रद्धा होती है उन्हें सांसारिक पदार्थों के ऊपर वैराग्य होता है और जिन्हें वैराग्य होता है, वह अनगारिता स्वीकार कर लेते हैं। आपमें से किसी को मिट्टी के बदले सोना मिलता हो तो आप लेने देर लगाएँगे? नहीं। इसी प्रकार जिसके अन्तःकरण में धर्मश्रद्धा उत्पन्न होगी और जिसे सांसारिक पदार्थों पर विरक्ति हो जायगी वह अनगारिता स्वीकार करने में विलम्ब नहीं लगाएगा।

धर्मकथा

धर्म कथा से चित्त के विकार दूर होते हैं और चित्त को शान्ति मिलती है। इस कारण सब से पहले यह देख लेने की आवश्यकता है कि अपने विकार कौन-से हैं? डाक्टर रोगी को दवा देने से पहले रोग का निदान करता है। जब तक रोग का निदान न किया जाय तब तक दवा कैसे दी जा सकती है? इसी तरह जब तक विकारों का पता न लगा लिया जाय तब तक यह बात कैसे जानी जा सकती है कि धर्मकथा सुनने से विकार दूर हुए हैं या नहीं? इस कारण सर्व-प्रथम अपने विकारों को जान लेने की आवश्यकता है। विकारों में सब से बड़ा विकार मोह है। मोह अन्य विकारों का बीज है। उसी से दूसरे विकार उत्पन्न

होते हैं। फिर भले ही मोह काम का हो या क्रोध का हो, लोभ का हो या दूसरे प्रकार का हो। मगर विकारों का राजा मोह ही है। जिसे सुनने से मोह में कमी हो वही धर्मकथा है। और जिसे सुनने से मोह में कमी न हो, बल्कि मोह उलटा बढ़ जाय, वह धर्मकथा नहीं, मोहकथा है।

जीवन की नींव धर्म है

मानव-जीवन यदि मकान के समान है तो धर्म उसकी नींव है। बिना धर्म के मानव-जीवन टिक नहीं सकता। अर्थात् धर्म के अभाव में जीवन मानव-जीवन न रहकर पाशविक जीवन बन जाता है। अतः जीवन को उत्तम मानवीय जीवन बनाने के लिए धर्म रूपी नींव गहरी और पुख्ता बनाने की आवश्यकता है। धर्म रूपी नींव यदि कच्ची रहेगी तो मानव-जीवन रूपी मकान शंका, कुतर्क, अज्ञान, अनाचार और अधर्म आदि के तूफानों से हिल जाएगा और उसका पतन हुए बिना नहीं रहेगा।

राष्ट्रधर्म

जिस कार्य से राष्ट्र सुव्यवस्थित होता है, राष्ट्र की उन्नति-प्रगति होती है, मानवसमाज अपने धर्म का ठीक-ठीक पालन करना सीखता है, राष्ट्र की संपत्ति का संरक्षण होता है, सुख-शांति का प्रसार होता है, प्रजा सुखी बनती है, राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढ़ती है और कोई अत्याचारी परराष्ट्र, स्वराष्ट्र के किसी भाग पर अत्याचार नहीं कर सकता, वह कार्य राष्ट्रधर्म कहलाता है।

जीवनव्यापी धर्म

आज धर्म अधर्म का विवेक नष्टप्राय हो रहा है। इसी कारण जन-समाज में ऐसी मिथ्या धारणा घुस गई है कि जितनी देर सामायिक में बैठा जाय, बस उतना ही समय धर्म में व्यतीत करना आवश्यक है। सामायिक समाप्त की, दूकान पर पैर रक्खा और धर्म भी समाप्त हुआ। दूकान पर तो पाप ही पाप करना होता है। वास्तव में यह धारणा भ्रमपूर्ण है। सामायिक में बैठ जाने मात्र से धर्म नहीं होता। रात दिन की शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों से ही पुण्य-पाप का हिसाब होता है।

मानवधर्म

जीवनधर्म का मर्म समझाने का अर्थ है आत्मा को पहचानना। ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, आदि धर्म जीवन के अंग—उपांग हैं। जहाँ तक समानता का आदर्श जीवन में नहीं उतरता वहाँ तक आत्मा की पहिचान नहीं होती। और समानता का आदर्श जीवन में उतारने के लिए सब से पहले जीवन में मानवता

प्रकट करनी पड़ती है। जब मानवता प्रकट होती है तब मानवधर्म ध्येय-मंत्र बन जाता है-मैं मानव हूँ, मुझे मानवता समझनी चाहिए और मानव के लिए ही जीवित रहना चाहिए; क्योंकि सभी धर्म महान् हैं किन्तु मानवधर्म उन सब से महान् हैं।

जिसके जीवन में, रग-रग में मानवता व्याप जाती है वह मानता और समझता है कि धर्ममात्र मानव के लिए हैं। मानव को अधिक संस्कारी—अधिक सुन्दर, अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए धर्म है। अतएव जहाँ धर्म का पालन करने में मानव के प्रति अन्याय होता हो वहाँ धर्म को साधन रूप मानकर उसकी पुनर्योजना करना उचित है।

तमाम धर्म मानवधर्म सीखने के साधन हैं। जो धर्म मानव के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करता है, मनुष्य को मनुष्य से जुदा करना सिखलाता है, मानव को तुच्छ समझना सिखलाता है वह धर्म नहीं है। धर्म में ऐसी बातों का स्थान नहीं है।

मनुष्य धर्म का पालन करता है सो इसलिए नहीं कि वह अपने आपको ऊँचा ठहराने की कोशिश करे, बल्कि इसलिए कि वह वास्तव में ऊँचा बने। धर्म-पालन का उद्देश्य वह उत्कृष्ट मनोदशा प्राप्त करना है, जिसमें विश्वबन्धुत्व का भाव मुख्य होता है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झण केणई' अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्रीभाव—बन्धुभाव है, किसी के साथ मेरा वैर-विरोध नहीं है। जैसे सच्ची महत्ता सादी होती है उसी प्रकार यह महान् मानवधर्म भी सरल और सादा है। इसे एक ही वाक्य 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' में प्रकट किया जा सकता है।

तुम्हारे लिए जो अनिष्ट है वह दूसरे के लिए भी अनिष्ट है। अगर तुम सड़ा पानी नहीं पी सकते तो दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं पी सकता। अगर तुम अपनी बीमारी में दूसरों की सहायता चाहते हो तो दूसरा भी यही चाहता है।

अगर मनुष्य इतना सीधा-सादा मानवधर्म समझ ले और अपने समस्त साधन इस धर्म का विकास करने के लिए मान ले तो फिर धर्म संबन्धी अधिक ज्ञान इसी में से उसे मिल जायगा। धर्म संबन्धी विधि-विधान खोजने के लिए उसे इधर-उधर नहीं भटकना पड़ेगा। मानवधर्म इतना सादा है कि उसे घड़ी भर में सब सीख सकते हैं: फिर भी मानवधर्म में रहने वाली गहनता इतनी उदार और भव्य है कि वह जीवन भर की शुद्धि की माँग करती है। जीवनधर्म का आदर्श विकारों को जीतना और विश्वबन्धुता सीखना है।

धर्म की व्यापकता

धर्म सार्व है—सर्वजनहितकारी है। सभी उसकी आराधना करके कल्याण-साधन कर सकते हैं। जो धर्म कुछ व्यक्तियों के काम आवे वह अपूर्ण है—संकीर्ण है। प्रकृति की समस्त वस्तुओं पर समस्त प्राणियों का अधिकार है।

धर्म भी प्राकृतिक है। वस्तु का स्वभाव है। 'वत्थुसहावो धम्मो।' ऐसी स्थिति में धर्म में भेदभाव की गुंजाइश कहाँ है?

६

पाँच व्रत

अहिंसा

अहिंसा एक सात्विकधर्म है। इसके पालने वालों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है—सात्विक वृत्ति वाले, राजस वृत्ति वाले, और तामस वृत्ति वाले। अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन, वीतराग पुरुष ही कर सकते हैं। इसके अलावा जो सात्विक वृत्तिवाले मुनिगण हैं, वे भी सम्पूर्ण हिंसा के त्यागी हैं। जो राजस वृत्तिवाले अहिंसा के पालक हैं; वे जानबूझ कर तो हिंसा नहीं करते हैं, किन्तु अन्याय का प्रतीकार करने के लिए, सेना-संधान करना भी अनुचित नहीं मानते। ये मध्यम कोटि के अहिंसा धर्म के पालक हैं। इसमें श्रावक, समग्दृष्टि, न्यायप्रिय और वीर पुरुषों का समावेश है। तीसरे तामसी वृत्ति वाले भी अहिंसा धर्म के पालन का दावा करते हैं, परन्तु ऐसे प्राणियों द्वारा वास्तविक अहिंसा नहीं पाली जा सकती। ऐसे केवल 'अहिंसापालक' नामाधारी हैं, अहिंसा का सच्चा स्वरूप समझते ही नहीं। वे लोग, अपनी माँ वहिन की बेइज़्ज़ती होते कर हृदय में तो बहुत क्रोध लाते हैं, किन्तु 'कहीं मर न जाऊँ' इस भय से चुप्पी साधे रहते हैं। जब कोई उनके इस मौन का कारण पूछता है, तो कह देते है कि मै अहिंसा धर्म का पालक हूँ, इसलिए अपने धर्म के पालन के लिए मैंने उसे दण्ड नहीं दिया और दयापूर्वक छोड़ दिया।

इस तरह मन में भय-भ्रान्त होकर, ऊपर से अहिंसा की बातें बनाने वाले तामसी अहिंसा का ढोंग मात्र रचते हैं।

अहिंसा और कायरता

अहिंसा कायर बनाती है या कायरों का शस्त्र है, यह बात वही कह सकता है जिसने अहिंसा का स्वरूप और सामर्थ्य नहीं समझ पाया है। इससे विपरीत सत्य तो यह है कि अहिंसा का व्रत वीरशिरोमणि ही धारण कर सकते हैं। जो कायर है वह अहिंसा को लजावेगा। वह अहिंसक बन नहीं सकता। कायर अपनी कायरता को छिपाने के लिए अहिंसक होने का ढोंग रच सकता है, वह अपने आपको अहिंसक कहे तो कौन उसकी जीभ पकड़ सकता है, पर वास्तव में वह सच्चा अहिंसक नहीं है। यों तो सच्चा अहिंसावादी एक चिउंटी के भी व्यर्थ प्राण हरण करने में थर्रा उठेगा, क्योंकि वह संकल्पजा हिंसा है। वह इसे महान् पातक समझता है। पर जब नीति या धर्म खतरे में होगा, न्याय का तकाज़ा होगा और संग्राम में कूदना अनिवार्य हो जायगा तब वह हजारों मनुष्यों के सिर उतार लेने में भी किंचिन्मात्र खेद प्रकट न करेगा। हाँ, वह इस बात का अवश्य पूर्ण ध्यान रक्खेगा कि संग्राम मेरी ओर से संकल्परूप न हो, वरन् आरम्भ रूप हो।

आत्मज्ञान के लिए वीरता

मित्रो! जो क़दम आपने आगे रख दिया है उसे पीछे मत हटाओ। तभी आप विजयी होंगे। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए आपको वीरों में भी वीर बनना पड़ेगा।

हिंसा प्रतिहिंसा (आघात-प्रत्याघात)

मङ्गल से मङ्गल और अमङ्गल से अमङ्गल होता है। आघात का प्रत्याघात होता रहता है। आज जो पार्ट तुम दूसरे से करवा रहे हो वही तुम्हें भी कभी करना पड़ेगा। सारांश यह है कि यदि तुम किसी को कष्ट दोगे तो तुम्हें कष्ट मिलेगा। अगर तुम किसी के प्राण लोगे तो तुम्हें भी प्राण देने पड़ेंगे। शस्त्र से गर्दन उड़ाओगे तो कभी उड़वानी पड़ेगी। दूसरे के शरीर का मांस खाओगे तो दूसरे को मांस खिलाना पड़ेगा।

अभिमान हिंसा है

आत्मा भले ही ऊपर से हिंसा न करता हो, किन्तु अगर उसे यह अभिमान है कि 'मै हिंसा करता ही नहीं हूँ' तो यही अभिमान हिंसा है। इसी प्रकार ऊपर से झूठ न बोलने वाले का झूठ न बोलने का अभिमान भी झूठ है और वह भी हिंसा है। किसी सद्गुणी के सद्गुण को देखकर प्रमोद पाने के बदले उस पर द्वेषभाव होना और उसे किसी प्रकार नीचा दिखाने का प्रयत्न करना भी हिंसा है।

अपनी आत्मा के समान दूसरे की आत्मा जानो

अगर तुम्हारे सामने कोई गरीब आदमी सख्त सर्दी का मारा थर्-थर् काँप रहा हो तो अपना फालतू कोट उसे दे देने की इच्छा तुम्हारे अन्तःकरण में उत्पन्न होनी चाहिए। अगर तुम इस अवस्था में उसे अपना कोट नहीं दे सकते, तो यह समझा जायगा कि तुम अब तक पराई पीड़ा को पहचान नहीं पाये हो। भोजन से तुम्हारा पेट ठसाठस भर गया हो, फिर भी बची हुई रोटी किसी गरीब को दे देने की भावना तुम्हारे हृदय में पैदा नहीं हुई और रोटी सेंक कर या सुखा कर दूसरे दिन खाने की तृष्णा बनी रही, तो माना जायगा कि अभी तुम दूसरों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझने में समर्थ नहीं हो सके हो।

अहिंसा की शक्ति

अहिंसा में ऐसी अपूर्व शक्ति है कि सिंह और हिरन, जो जन्म से ही विरोधी हैं, अहिंसक की जाँघ पर आकर सो जाते हैं। 'अहिंसाप्रतिष्ठायां वैरत्यागः' अर्थात् जहाँ अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है वहाँ वैर का नाश हो जाता है। अहिंसक के निकट जातिविरोधी पशुओं के एकत्र निर्वैर निवास करने के उदाहरण आज भले ही न दिखाई पड़ते हों, फिर भी अहिंसा की शक्ति के उदाहरणों की कमी नहीं है। अहिंसा के आराधक महात्माओं की चरण-रेणु से हज़ारों को मारने वाला हत्यारा भी शुद्ध हो गया है।

संकीर्ण अहिंसा

लोगों ने अहिंसा का अर्थ जीव न मारना, इतना ही समझ लिया है। लोग दया

भी सूक्ष्म जीवों की ही करके अहिंसावादी बनना चाहते हैं, क्योंकि इसमें कुछ करना-धरना नहीं पड़ता। मनुष्य की दया करने में तो क्रोध, मान, माया, मोह आदि छोड़ना पड़ता है। इस कारण लोगों ने दया को सूक्ष्म जीवों की हिंसा न करने में सीमित कर दिया है। भाई-भाई आपस में कट मरेंगे और स्थावर जीवों की दया में आगे रहेंगे। भाई को मारने, उसका नाश करने, उसे हानि पहुँचाने और उसका हक़ छीनने को तैयार रहते हैं, फिर भी कहते हैं—'मै महीने में छह दया पालता हूँ !' क्या यही दया का स्वरूप है ? ऐसा करने से दया हो जाती है ? पृथ्वीकाय के जीवों की दया पालना उत्कृष्ट है, पर पहले, पहले के खाते तो पूरे करो ! कपड़ों का त्याग करते समय पहले पगड़ी का त्याग किया जाता है या धोती का ? आज यह हाल हो रहा है कि पगड़ी तो छोड़ते नहीं और धोती छोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं।

अहिंसा की ध्वजा के नीचे आना होगा

महायुद्ध से पहले यूरोप बहुत ऊँची दृष्टि से देखा जाता था। युद्ध में लाखों-करोड़ों रुपयों का गरीबों से छीना हुआ माल समुद्र के उदर में चला गया होगा। अरबों का धन तोपों से उड़ा दिया गया होगा, बड़े-बड़े मकान और सुदृढ़ दुर्ग ढा दिये गये और सुधरे हुए तथा बुद्धिमान् कहलाने वाले लोग बमों और गोलों के शिकार बना दिये गये। इसके अतिरिक्त लगभग डेढ़ करोड़ गरीब सैनिक मौत के मुँह में ठेल दिये गये। ऐसी विषैली गैस का प्रयोग किया गया जिससे लोगों का दम घुट जाय और तत्काल मरण हो जाय। यह सब परिणाम 'साइन्स' के नये संस्करण का ही है। लोग पहले सत्तर मील की दूरी से गोला फैंकने वाली तोप, एक मिनिट में सैकड़ों गोले बरसाने वाली तोप आदि आविष्कारों को देख-सुनकर आश्चर्य करते और प्रसन्न होते थे। लेकिन इसका नतीजा क्या हुआ, सो अब देखो। हिंसा का यह घोर अनर्थ अन्य देशों को नहीं दिखाई दिया, यह केवल भारतवर्ष को ही दिखाई दिया। भारत पहले से ही ऐसी हिंसा का विरोध करता रहा है और आज भी वह अपनी पूर्वकालीन परम्परा पर चट्टान की तरह दृढ़ है।

गांधीजी के नेतृत्व में आज भी भारतवर्ष अहिंसा की ध्वजा फहरा रहा है और पुकार-पुकार कर कहता है—लोगो ! हमारी बात सुनो। अगर तुम शांति और सुख के साथ रहना चाहते हो, तो अपने झूठे विज्ञान को, हिंसा रूपी पिशाचिनी के पिता इस विज्ञान को समुद्र में डुबो दो। हिंसा को अपने देश के अभ्युदय का साधन मत समझो। हिंसा तो किसी भी देश को तबाह करने वाली है। जब तक संसार अहिंसा की ध्वजा के नीचे नहीं आ जाता तब तक संसार नरक से बेहतर नहीं बन सकता !

अहिंसा का विधि-अर्थ

'अहिंसा' शब्द को लोगों ने हिंसा के अभाव अर्थ में तो समझ लिया है मगर

उससे जो विधि-अर्थ निकलता है उसकी ओर बहुत कम लक्ष्य दिया जाता है। अहिंसा का विधि-अर्थ है—मैत्री, बन्धुता, सर्वभूत-प्रेम। जिसने मैत्री या बन्धुता की भावना जागृत नहीं की है उसके हृदय में अहिंसा का सर्वांगीण विकास नहीं हुआ है। अहिंसा के इस विधि-अर्थ को आराधन करते हुए हिंसा का विरोध करना भी अहिंसा है। चाहे प्राण जावें लेकिन हिंसा का विरोध करे। हाँ, हिंसक का विरोध न करे। यदि हिंसक का विरोध किया, तब तो प्रतिहिंसा हो जायगी, जो हिंसा ही है। सच्चा अहिंसक, अहिंसा के लिए हिंसा करना स्वीकार नहीं कर सकता।

सुधार का राजमार्ग

कोई आदमी कितना ही बुरा क्यों न हो, फिर भी वह चण्डकौशिक सर्प सरीखा तो नहीं होगा। भगवान् ने उस विगड़े हुए को सुधारने के लिए बन्धुता प्रकट की थी। अतएव मार-पीट कर विगड़ी को सुधारने के लिए विगड़ी का मार्ग अपनाना और उससे सुधारने की आशा करना एकान्त भूल है। सुधार का जो मार्ग भगवान् ने अपने जीवन-व्यवहार द्वारा प्रकाशित किया है, वही सुधार का राजमार्ग है।

बन्धुतामय-साम्य

चण्डकौशिक को बुरा कहने वाले, उससे लड़नेवाले, बहुत-से लोग उसे मारकर 'समता' स्थापित करना चाहते थे, पर बन्धुता के बिना ऐसा नहीं हो सका। 'समता के लिए हिंसात्मक भावों से लड़नेवाला यदि निर्बल हो और प्रतिपक्षी सबल हो, तो वह लड़ने वाला मारा जाता है। चण्डकौशिक को कई लोग मारने गये, लेकिन वे खुद ही मारे गये। जो चण्डकौशिक इतना प्रबल था, जिसे कोई जीत नहीं सकता था, उसी चण्डकौशिक को बन्धुता की प्रबल भावना से परिपूर्ण भगवान् महावीर स्वामी ने अनायास ही जीत लिया।

तात्पर्य यह है कि जगत् में शांति स्थापित करने के लिए साम्य की आवश्यकता तो है, मगर बन्धुता के बिना शांति-स्थापना का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। साम्य की स्थापना करते समय यदि बन्धुता की प्रतिष्ठा नहीं की गई तो मारकाट और अशांति हुए बिना नहीं रहेगी।

आज अपने आपको 'जैन' कहने और कहलाने वाले लोग भले ही संख्या में कम हों, लेकिन भगवान् महावीर का सिद्धान्त समस्त संसार में आदर्श माना जाता है। मानव समाज ने इस सिद्धान्त के विरुद्ध व्यवहार करके जो बुरे परिणाम भुगते हैं और आजकल भी भुगत रहा है, उन्होंने बन्धुता की भावना की आवश्यकता सिद्ध कर दी है और अब प्रत्येक राष्ट्र उसे प्राप्त करने में गौरव समझता है, भले ही वह उसे प्राप्त करने में अपनी लाचारी अनुभव करता हो।

अहिंसा का बल

हिंसा के सामने दया क्या कर लेगी? इसका उत्तर यह है कि दया हिंसा पर विजय प्राप्त करेगी। जिन्होंने अहिंसा की उपलब्धि की है, जिन्हें अहिंसा पर अचल आस्था है, वह जानते हैं कि अहिंसा में अद्भुत और आश्चर्यजनक शक्ति विद्यमान है। अहिंसा के बल के सामने हिंसा गल कर पानी-पानी हो जाती है।

सूक्ष्म हिंसा

यदि आप किसी को गाली देकर उसका मन दुखाने का प्रयत्न करते हैं, तो समझिए कि मैं एक प्रकार की हिंसा कर रहा हूँ। यदि आप किसी का अपमान कर रहे हैं तो समझ लीजिए कि मैं एक प्रकार की हिंसा का भागी बन रहा हूँ। यदि आप किसी को लड़ाई-झगड़ा करने की सलाह देते हैं, तो समझिये कि मेरा यह कृत्य एक प्रकार की हिंसा में शामिल है। इतना ही नहीं, मन से किसी का बुरा विचारना भी हिंसा है। इन तमाम हिंसाओं के करने वाले प्राणियों को; यथा-समय बदला चुकाना पड़ता है।

हिंसा का अधिकार नहीं

सब प्राणियों ने अपनी-अपनी रक्षा के लिए नाखून, खाने के लिए दाढ़ व दाँत, देखने के लिए नेत्र, सुनने के लिए कान, सूँघने के लिए नाक, चखने के लिए जीभ आदि अंग-उपांग अपने-अपने पूर्व कर्म के अनुसार प्राप्त किये हैं। इनको छीन लेने का मनुष्य को कोई अधिकार नहीं है। जो मनुष्य मक्खी के पङ्ख को भी नहीं बना सकता, उसे उसको नष्ट करने का अधिकार नहीं है। परन्तु स्वार्थ ऐसी चीज़ है, कि उसकी ओट में कुछ भी नहीं दीखता। जो अंग-उपांग उस प्राणी के लिए उपयोगी हैं, मनुष्य कहा करते हैं कि यह तो हमारे लिए पैदा किया गया है। ऐसा कहने वालों से, सिंह यदि मनुष्य की भाषा में कहे कि तू मेरे खाने के लिए पैदा किया गया है, तो वह मनुष्य उसे क्या जवाब देगा?

अहिंसा कायरों का धर्म नहीं

अत्याचार करना जैसे मानसिक दौर्बल्य है, वैसे ही कायरता धारण करके हृदय में जलते हुए, ऊपर से अत्याचार सहन कर लेना भी मानसिक दौर्बल्य है। परन्तु वास्तविक शांति धारण कर लेना यह मानसिक उच्चता और उन्नत धर्म है। जैसे, कोई दुराचारी मनुष्य, किसी धर्मशील स्त्री का शील हरण करता है और दूसरा उस शरण आई हुई बहिन को, कायर बन कर शरण नहीं देता और भागता है, तो ये दोनों मानसिक दौर्बल्य के धारण करने वाले हैं। एक क्रूरता से और दूसरा कायरता से। आज यह बात दिखाई पड़ती है, कि बहुत से

जैनी भाई कायरता को ही अहिंसा मान बैठे हैं। इसकी वजह से, कर्त्तव्य से पराङ्मुख होकर अन्य समाज के सामने डरपोक से दिखाई देते हैं। यह उनके मानसिक दौर्बल्य का कारण है। वास्तविक अहिंसा, कायरों का धर्म नहीं, किन्तु सच्चे वीरों का है।

दया का दर्शन

जो दूसरे को दुःखी देख कर उसके दुःख को आत्मीय भावना से ग्रहण करता है और दूसरे के सुख में प्रसन्न होता है वही-दयालु है, वही धर्मी है, वही कर्त्तव्यनिष्ठ है।

भाइयो! अगर आपके अन्तःकरण में दया का वास होगा तो आप ऐसे वस्त्र कदापि न पहनेंगे जिनकी बदौलत संसार में बेकारी और गरीबी बढ़ती है। आप ऐसा भोजन कदापि न करेंगे जिससे आपके भाई-बन्दों को भूख के मारे तड़फ-तड़फ कर मरना पड़ता है। आपके प्रत्येक व्यवहार में गरीबों की भलाई का विचार होगा। आपके अन्तःकरण में निर्धनों के दुःखों के प्रति सदा संवेदना जागृत होगी। आप उनके प्रति सदैव सहानुभूतिमय होंगे। उनके सुख के लिए प्रयत्नशील होंगे। आप उनकी सहायता करेंगे, और उस सहायता के बदले उन पर ऐहसान का बोझा नहीं लादेंगे, वरन् उनका उपकार करके अपने आपको उपकृत समझेंगे।

मित्रो! दया का दर्शन करना हो तो गरीब और दुःखी प्राणियों को देखो। देखो न केवल नेत्रों से, वरन् हृदय से देखो। उनकी विपदा को अपनी विपदा समझो और जैसे अपनी विपदा का निवारण करने के लिए चेष्टा करते हो वैसे ही उनकी विपदा निवारण करने के लिए प्रयत्नशील बनो।

अहिंसा

एक शक्ति अपनी विरोधी शक्ति का संहार किया करती है। लोग यह समझ बैठते हैं कि विरोधी शक्ति का नाश करना भी हिंसा है। वास्तव में आत्मा के आत्मिक शक्तियों के विरोधी का नाश करना हिंसा नहीं है। अगर ऐसा होता तो अरिहंत अर्थात् आत्मिक शत्रुओं को नाश करने वाले महापुरुष एवं भगवान् क्यों कहलाते?

दया-देवी

जब दया-देवी ज्ञान-सिंह पर आरूढ़ होकर तप-त्रिशूल हाथ में लेकर प्रकट होगी तब वह अपने विरोधी दल को कैसे बचा रहने देगी?

अब प्रश्न यह है कि दया का विरोधी कौन है? उत्तर यह है कि दया की विरोधिनी हिंसा, ज्ञान का विरोधी अज्ञान और तप का विरोधी इन्द्रिभोग है।

दयादेवी इन्हीं की शत्रु है।

× × × ×

कई लोग आलस्य में ही दया मान बैठे हैं। शरीर से काम न करना और ऐश-आराम में पड़े रहना, यही उनके लिए दया बन गई है। परन्तु ऐसा करने से आलस्य ने शरीर को घर बना लिया है। इसी आलस्य के कारण स्त्रियाँ घूमने लगती हैं, तब यह समझा जाता है कि इन्हें भूत लग गया है या हिस्टीरिया रोग हो गया है।

मित्रो! स्वयं आलस्य के वश होकर पड़े रहना और दूसरों से काम करा लेना दया नहीं है। दया करनी है तो पहले ज्ञान सीखो। ज्ञान से ही दया होती है। दयादेवी के दर्शन करना हों तो, वह देखो, ज्ञान रूपी सिंह पर सवार है। अज्ञान से उसके दर्शन न होंगे। जब तक अज्ञान विद्यमान है तब तक दया की परछाईं पाना भी कठिन है।

देवी के हाथ में त्रिशूल होता है, जिसके द्वारा वह अपने शत्रुओं का हनन करती है। इस दयादेवी के हाथ में क्या है? इसका उत्तर यह है कि दयादेवी तप रूपी त्रिशूल को ग्रहण किये हुए है। तप-त्रिशूल से दुश्मन सदा भयभीत रहते हैं। इसी त्रिशूल के द्वारा वह अपने शत्रुओं का संहार करती है।

दया और घृणा

दया में घृणा को कतई स्थान नहीं है। अन्तःकरण में जब दया का निर्मल स्रोत बहने लगता है तब घृणा आदि के दुर्भाव न जाने किस ओर बह जाते हैं।

अहिंसक की शूरता

लोगों में एक भ्रमपूर्ण धारणा फैली हुई है कि अहिंसा कायरों का सहारा है। किन्तु वास्तव में अहिंसा कायरों की नहीं वरन् वीरों की महान् शक्ति है। सच्चा शूरवीर ही अहिंसा का पालन कर सकता है। सच्चा अहिंसक इन्द्रों को भी पराजित कर सकता है। वह निरन्तर लड़ता रहता है, विपक्ष का नाश करता रहता है। कदाचित् तुम कहोगे कि अहिंसक के हाथ में तलवार तो होती नहीं, फिर वह लड़ता कैसे है? इसका उत्तर यह है कि उसके पास जीव-रक्षा का जो साधन—रजोहरण होता है, वह उसकी तलवार है। पर वह भी एक बाह्य चिह्न है। अहिंसक का सच्चा शस्त्र तो उसकी भावना है। अहिंसा के प्रतिपक्ष को विध्वस्त करने की भावना ही अहिंसक का प्रबल शस्त्र है।

वीर और कायर

चञ्चल बालक अपने पिता की दाढ़ी खींच लेता है और कभी-कभी चपत भी

मार देता है। फिर भी पिता उसे मारता नहीं है, वरन् चुपचाप सहन कर लेता है। तो क्या पिता को कायर कहा जायगा? और यदि पिता उस पुत्र को बदले में मारे तो क्या उसे वीर कहा जायगा? सच्चा पिता वही कहलाएगा जो अबोध बालक द्वारा पहुँचाये हुए कष्ट को शांत भाव से सहन कर लेता है और बदला लेने की मलीन भावना से बालक को कष्ट नहीं पहुंचाता। इसी प्रकार वीर पुरुष वह है जो अज्ञान पुरुषों द्वारा दिये हुए कष्टों को शांति से सहन करता है और हृदय में बदला लेने की भावना ही उत्पन्न नहीं होने देता।

भारतीय अहिंसा

संसार रक्तलीला से घबराया हुआ है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का, एक जाति दूसरी जाति का और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का गला काटते-काटते घबरा चुका है। विश्व के इतिहास के पन्ने रक्त की लालिमा से रंगे हुए हैं। दुनिया की प्रत्येक मौजूदा शासनपद्धति खून-खच्चर की भयावह स्मृति है। कौनसा राज्य है, जिसकी नींव खून से न सींची गई हो? कौन-सी सत्ता है जो मनुष्यों का खून पिये बिना मोटी-ताज़ी बनी हो? आज सारा संसार ही जैसे वध, ध्वंस, विनाश और संहार के बल पर संचालित होता है। यह स्थिति घबराहट पैदा करने वाली है। आखिर मनुष्य यह स्थिति कब तक सहन करता चला जायगा?

भारतवर्ष ने अहिंसा और सत्य का जो झंडा गाड़ा है, उस झंडे की शरण ग्रहण करने से ही संसार की रक्षा होगी। अन्य देश जहाँ तोपों और तलवारों की शिक्षा देते हैं वहाँ भारतवर्ष अहिंसा का पाठ सिखाता है। भारत ही अहिंसा का पाठ सिखा सकता है, किसी दूसरे देश की संस्कृति में यह चीज़ ही नज़र नहीं आती। बन्धुता का जन्म भारत में ही हुआ है। भारतीय स्त्रियों ने ही शांति और प्रसन्नता के साथ लाठियों की मार खाकर दुनिया को अहिंसा की महत्ता दिखलाई है। ऐसी क्षमता किसी विदेशी नारी में है?—हर्गिज़ नहीं।

अहिंसक

जिसका हृदय-पुष्प अनुकम्पा के सौरभ से सुरभित है वह दूसरों के दुख को अपना ही दुख मानता है और उसे दूर करने का ऐसा ही प्रयास करता है, मानो अपने दुख को दूर करने का प्रयास कर रहा हो। पर आप क्या करते हैं?

कल्पना करो, आपके पास दो कोट हैं। आपको एक ही कोट की आवश्यकता है। दूसरा कोट अतिरिक्त है। अब अगर कोई मनुष्य कड़ाके की सर्दी से ठिठुर रहा हो तो क्या आप उसे अपना अतिरिक्त कोट दे देंगे? मन में यह तो नहीं सोचोगे कि—'ठिठुरने वाला अपने कर्मों का भोग भोगता है। मरता है तो मरे। मुझे उससे क्या सरोकार है?' यदि आप यह सोचते हैं तो कहना चाहिए

कि आप में सच्ची अहिंसा का उदय नहीं हुआ है। सच्चा अहिंसक दूसरों का दुख दूर करने के लिए आप स्वयं दुख उठाता है। धन्य हैं वह धर्मरुचि अनगार, जिन्होंने कीड़ियों की अनुकम्पा करके कटुक तुंबे का शाक खा लिया और प्राणों उत्सर्ग करके भी उनकी रक्षा की। और धन्य हैं भगवान् नेमिनाथ, जिन्होंने पशुओं की रक्षा के लिए राजीमती का भी परित्याग कर दिया।

आप धर्मरुचि और नेमिनाथ की अहिंसा के आराधक हैं। आदर्श आपके सामने उपस्थित है। अपने कर्त्तव्य का निर्धारण उस आदर्श के प्रकाश में कीजिए।

जो व्यक्ति अहिंसक कहलाता हुआ भी और अपने आपको अहिंसक मानता हुआ भी अपने कुटुम्बी जनों पर अथवा नौकरों पर करुणाभाव नहीं रखता, उसके हृदय में क्या वास्तविक अहिंसा है? नौकर जब बीमार हो और कार्य करने में समर्थ न हो, उस समय उसका वेतन काट लेना अहिंसक को शोभा नहीं देता। अंगरेज लोग अपने बीमार नौकरों की सार-संभाल रखते हैं, उनकी दवा का प्रबन्ध करते हैं और वेतन नहीं काटते। तो क्या अहिंसा की आराधना करने वालों को ऐसा ही व्यहार करना उचित नहीं है?

दयाधर्म

जिसका जीवन दयाधर्म से सराबोर है, वह चर्बी लगे वस्त्र पहनेगा या विना चर्बी के? कदाचित् विना चर्बी का वस्त्र अधिक कीमती हो तो क्या पैसे के लिए दयाधर्म का त्याग किया जा सकता है? अगर किसी जगह शाक—भाजी आठ आने सेर और मांस चार आने सेर बिकता हो तो क्या कोई दयाधर्मी शाक-भाजी छोड़कर मांस-भक्षण करना पसंद करेगा? मांस के समय दया का विचार हो आता है, इसका प्रधान कारण पैतृक संस्कार है; मगर वस्त्रों के विषय में दया का भाव क्यों उदित नहीं होता? चिकागो के संबन्ध में सुना जाता है कि वहाँ के कत्लखानों से रक्त बाहर निकालने के लिए किसी बड़े शहर के गटर के समान मोटे-मोटे नल लगाये जाते हैं। इस प्रकार की महान् हिंसा वाली चर्बी लगे वस्त्र पहनना दयाधर्मी को शोभा देता है? सच्चा दयाधर्मी तो यही कहेगा कि विना कपड़े रह जाना अच्छा है, पर ऐसे पापमूलक वस्त्र नहीं पहन सकता।

दयाधर्म की रक्षा के लिए तुमने मांस खाने का त्याग कर रक्खा है। मांस से इतनी घृणा करते हो कि प्राण भले ही चले जाएँ पर मांस का स्पर्श नहीं कर सकते। मांस न खाने के लिए जिस युक्ति का उपदेश किया जाता है, उसी युक्ति का अन्य विषयों में—प्रत्येक वस्तु की हेयता और उपादेयता में उपयोग करने से ही दयाधर्म टिक सकता है।

दयाधर्म पालन करने में जो कष्टों की शिकायत करते हैं उन्हें समझना चाहिए

कि दयाधर्म की रक्षा के लिए कष्टों को सहन करना ही उचित है। गजसुकुमार मुनि संयम का पालन करने ही निकले थे और संयम का पालन कर रहे थे, इसी कारण उन्हें रोमांचकारी कष्टों का सामना करना पड़ा। पर कष्ट आ पड़ने पर उन्होंने क्या संयम का त्याग कर दिया था? तो तुम दयाधर्म का पालन करने के लिए साधारण कष्टों को भी सहन नहीं कर सकते? यद्यपि सम्पूर्ण दया तो चौदहवें गुणस्थान में ही पाली जा सकती है, पर उससे पहले अपनी शक्ति के अनुसार दया का पालन करना ही चाहिए और दयाधर्म की शक्ति का एवं उसके द्वारा होने वाले आत्म-कल्याण का माप निकालना चाहिए।

पुण्यवान

पुण्यवान बनने की इच्छा तो सभी की होती है, पर वास्तव में पुण्यवान होता कौन है? हाथी पर बैठकर छत्र-चँवर कराने तथा राजसिंहासन पर बैठ कर प्रजा पर हुक्म चलाने से ही कोई पुण्यात्मा नहीं कहलाता। यह सब सामग्री पुण्य से भले ही मिली हो, लेकिन उनका उपभोग करना पुण्यवानी नहीं है—इस सामग्री के उपभोग से पुण्य का क्षय ही होता है, पुण्य का उपार्जन नहीं होता। हम तो उसीको पुण्यवान समझते हैं जिसका दिल दीन दुःखी जीवों को देखते ही पिघल कर पानी-पानी हो जाता है. जिसके दिल में दया की विद्युत् दौड़ने लगती है।

गरीबों की सहायता के लिए खादी

आजकल बहुत-से लोग श्रीमन्ताई के ढोंग में पड़ कर गरीबों की ओर से आँखें बंद कर लेते हैं। उनके दिल में दीन—दुखियों की सेवा-सहायता करने का विचार तक नहीं आता है। मगर उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि समाज की यह विषमता एक दिन असह्य हो जायगी और तब भयंकर क्रांति होगी। उस क्रांति में गरीब-अमीर का भेद-भाव विनष्ट हो जायगा और एक नई सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होगा। बनेड़ा (मेवाड़) में पूज्य श्रीलालजी महाराज ने कहा था कि गरीबों पर दया करो। उनकी उपेक्षा न करो। नहीं तो बोलशेविज्म आ जायगा! उस समय आप श्रीमन्त लोगों को कष्ट में पड़ना पड़ेगा। उस समय गरीब लोग अमीरों से कहेंगे—'बताओ, तुम्हारे पास यह धन कहाँ से आया है? हम गरीबों की रोटियों को पैसे के रूप में जमा करके हमें तुमने भूखों मारा है। अब तुम अमीर और हम गरीब नहीं रह सकते। तुम्हें भी हमारे समान बनना पड़ेगा। हमारे समान परिश्रम करके खाना होगा। अब दूसरों के परिश्रम पर चैन की गुड्डी नहीं उड़ा सकते। बिना पर्याप्त मेहनत किए किसी को भर-पेट खाने का क्या अधिकार है?' इस प्रकार जिन गरीबों की आज उपेक्षा की जाती है वही गरीब आपकी श्रीमन्ताई नष्ट कर डालेंगे। अगर आप चाहते हैं कि बोलशेविज्म

न आवे-क्योंकि वह सिद्धान्त भी अनेक दोषों और त्रुटियों से भरा हुआ है—तो आपको गरीबों की सुध लेनी चाहिए। अगर आप गरीबों की रक्षा करेंगे तो गरीब आपकी रक्षा में अपने प्राण तक निछावर कर देंगे। अतएव गरीबों की सहायता के लिए और अपनी रक्षा के लिए खादी को अपनाओ। गरीबों की रक्षा किए बिना आपकी रक्षा होना कठिन है। चर्बी के वस्त्र त्यागने पर आपकी आत्मा को शांति मिलेगी, गरीबों की सहायता होगी और आप पाप से बचे रहेंगे। इससे मुझे भी प्रसन्नता होगी। मेरी यह प्रबल कामना है कि आपको सुबुद्धि प्राप्त हो।

खादी और जैनदृष्टि

कुछ लोग कहते हैं—हम खादी कैसे पहनें? खादी में जूं पड़ते हैं और खादी धोने में पानी अधिक खर्च होता है। अतएव खादी पहनने में हिंसा अधिक होती है। इसके अतिरिक्त जैनधर्म राग-द्वेष करने का निषेध करता है और खादी पहनना तथा विलायती वस्त्र न पहनना, यह क्या राग द्वेष नहीं है?

'जिसने राग द्वेष को जीत लिया है वह चाहे तो खादी पहनता है, चाहे तो विलायती वस्त्र पहनता है—उसके मन में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता। जैनदृष्टि के अनुसार खादी और विदेशी वस्त्र में से किसी पर राग और किसी पर द्वेष करना उचित नहीं है।' गान्धीजी खादी पहनने के सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं, उसके विरुद्ध जैनदृष्टि से यह तर्क किया जा सकता है—किया जाता है। हमें गांधीजी के कथन पर और उसके विरुद्ध किए जाने वाले तर्क पर तटस्थ रह कर विचार करना है।

कहा जाता है कि खादी में अधिक जूं पड़ जाते है और उसे धोने में अधिक पानी काम में लाना पड़ता है। परन्तु इस प्रकार आरंभ-समारंभ देखने बैठेंगे, तब तो अनेक अनीतिमय कार्य करने पड़ेंगे। उदाहरण के लिए मान लीजिए—एक आदमी कहता है—मैं ब्रह्मचर्य पाल नहीं सकता, और विवाह करता हूँ तो आरंभ-समारंभ होता है। इसके अतिरिक्त विवाह करने से संतान उत्पन्न होगी और झंझटें बेहद बढ़ जाएँगी। अतः इस आरंभ से बचने के लिए, उत्तम उपाय यह है कि रुपया दो रुपया देकर, वेश्यागमन करके कामवासना को तृप्त कर लिया जाय।' अगर कोई मनुष्य ऐसा कहे तो तुम उससे क्या कहोगे? निस्संदेह तुम्हें कहना पड़ेगा कि ऐसा करना महापाप है। इस प्रकार दिखाऊ आरंभ को पकड़ लिया जाय और परोक्ष रूप से होने वाल महाआरम्भ आदि घोर पापों पर नजर न डाली जाय, तो नैतिक जीवन से हाथ धो लेने पड़ेंगे और जीवन में अनीति का राज्य हो जायगा। संसार में जितने भी कृत्य हैं, उन सब के साथ पाप और पुण्य दोनों लगे रहते हैं। ऐसी अवस्था में हमें पाप-पुण्य की न्यूनता और अधिकता का ही विचार करना चाहिए।

जिस कृत्य से पाप अधिक होता है, उसका त्याग पहले करना चाहिए। वेश्यागमन और विवाह विषय को ही लीजिए। यदि वेश्यागमन भयंकर पाप है और नैतिक विवाह करना भयंकर पाप नहीं है, तो पहले वेश्यागमन का त्याग करना श्रेयस्कर है। यही बात वस्त्र के विषय में समझनी चाहिये। कपड़े के विषय मे यदि गहरा विचार करोगे तो मालूम होगा कि वेश्यागमन से देश को और धर्म को जितनी हानि पहुँची है, उससे कहीं अधिक हानि चर्बी लगे हुए वस्त्रों के उपयोग से हुई है। जैसे परम्परा की अपेक्षा वेश्यागमन से अधिक पाप लगता है, उसी प्रकार परम्परा से चर्बी के वस्त्रों का उपयोग करने से अधिक पाप होता है। ऐसी स्थिति में आरंभ का बहाना करके जैसे विवाह की अपेक्षा वेश्यागमन को अल्पारंभी नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार आरंभ के बहाने खादी के विरुद्ध भी नहीं कहा जा सकता।

संभव है चर्बी के वस्त्र धोने में कम पानी की आवश्यकता होती हो, पर ज़रा इस बात पर भी तो विचार करो कि परम्परा से उसमें कितना पाप समाया हुआ है? खादी धोने में अपेक्षा कृत अधिक पानी का उपयोग करना पड़ता होगा, पर चर्बी के वस्त्रों की अपेक्षा खादी के पाप का परम्परा की अपेक्षा से विचार करोगे तो दोनों का भेद साफ़ मालूम हो जायगा।

भारतवर्ष पर राग और विलायत पर द्वेष क्यों किया जाय? इसके समाधान में मैं कहना चाहता हूँ कि जैनधर्म राग-द्वेष का विधान कदापि नहीं करता। पर जब तुम सांसारिक उत्तरदायित्व के बोझ से लदे हुए हो, तो नैतिक राग-द्वेष से बच नहीं सकते। उदाहरणार्थ—तुम अपने पुत्र को अपना मानते हो, पड़ौसी के पुत्र को अपना पुत्र नहीं समझते। पड़ोसी के पुत्र पर दया और स्नेह तो तुम रखते हो, पर उसे अपना ही पुत्र तो नहीं मानते! इसी प्रकार भारत तुम्हारा देश है, तुम भारत में रहते हो, भारत में ही तुम्हारा पालन-पोषण हुआ है, अतएव भारत पर अगर तुम्हारा राग है, तो यह स्वाभाविक है।

भारतवर्ष पर प्रेम रखने का अर्थ यह नहीं है कि तुम इंगलैंड पर द्वेष रखते हो। जहाँ तुम भारत से प्रेम करते हो वहाँ इंगलैंड पर भी तुम्हें दया-भाव रखना चाहिए। आज वह देश भी खराब हो रहा है। तुम उस देश के कपड़े का व्यवहार करते हो, इस कारण वह दूसरे देश का खून चूसना सीख गया है और विलासी बन गया है। अगर तुम चर्बी लगे वस्त्रों का पहनना छोड़ दो, तो उस देश में चर्बी के लिए होने वाली हिंसा रुक सकती है। इसके साथ ही उस देश के निवासियों में जो बुराइयां घुस गई हैं वे दूर हो सकती हैं और उनकी दूसरों का रक्त चूसने की आदत भी मिटाई जा सकती है। इन सब बातों को भलीभांति समझ लो। फिर करोगे तो वही, जो तुम्हें रुचिकर होगा। अलबत्ता, इस तथ्य को समझ कर प्रवृत्ति करोगे, तो महा-आरंभ से बच सकोगे। शास्त्रों में श्रावक को अल्पारंभी-

अल्पपरिग्रही कहा है और यह भी कहा है कि श्रावक धर्म-मार्ग के अनुसार अपनी आजीविका चलाता है। श्रावकों के वर्णन में कहा गया है कि, श्रावकों ने आरंभ का सर्वथा त्याग न किया था, फिर भी वे महा-आरंभ से मुक्त थे। जो महा-आरम्भ से मुक्त रहे हैं, उन्हें अल्पारम्भी होने पर भी शास्त्र धर्मी बतलाते हैं—पापी नहीं कहते। अतएव चर्बी के वस्त्रों और खादी के वस्त्रों की तुलना करो। देखो किससे अल्प—आरंभ होता है और किससे महा—आरंभ होता है। फिर विवेक के साथ, जो वस्तु महा—आरम्भजनक जान पड़े, उसका त्याग करो।

खादी के कपड़े धोने में अधिक पानी लगता है, इसी कारण खादी की निन्दा करना उचित नहीं है। साथ ही चर्बी लगे कपड़ों को धोने में कम पानी की आवश्यकता होती है, इतने मात्रा से उन्हें खादी की अपेक्षा श्रेष्ठतर समझना भी ठीक नहीं है। इनके पीछे कितनी महा-आरंभ की परम्परा विद्यमान है, इस बात का विचार अवश्य करना चाहिए। खादी के उपयोग से कदाचित् अधिक पानी की हिंसा होती हो, किन्तु चर्बी लगे कपड़ों से तो मनुष्य तक की हिंसा होती है!

मै यह नहीं कहता कि तुम खादी पहनो, मै तो यह कहना चाहता हूँ कि महा-आरंभ और अल्प-आरंभ को समझो और महा-आरंभ से बचो। अल्पारंभ से भी छूटने की भावना रक्खो। कदाचित् अल्प-आरंभ से न बच सको, तो महा-आरंभ से अवश्य ही बचो। कपड़ों का तुम सर्वथा त्याग करके नग्न रह सको तब तो ठीक है, अगर ऐसा न कर सको और कपड़ा पहनना अनिवार्य समझो तो महा-आरंभ का तो त्याग करो। जिस कपड़े में चर्बी लगी हो, वह आररंभ की दृष्टि से पहले त्याज्य है।

अगर तुम लोग बिलकुल कपड़े पहनते न होते, तो यह उपदेश देकर मैं अपने आपको धन्य मानता। मगर तुम कपड़ों का व्यवहार करना नहीं छोड़ सकते। ऐसी दशा में चर्खा न चलाने का उपदेश देना, तुम्हें एक महान् पातक में पटकना होगा। मान लीजिए एक बाई चक्की चला कर, आटा पीस कर खाती है। मै उसे चक्की न चलाने का उपदेश देकर चक्की चलाने से उसे रोक देता हूँ। पर उस बाई को खुराक के लिए आटे की आवश्यकता पड़ती है। ऐसी अवस्था में वह मशीन से चलने वाली चक्की का सहारा लेगी और मेरे उपदेश के कारण अल्प-आरंभ के पाप के बदले महा-आरंभ के पाप में पड़ जायगी। इसके बदले यदि मै यह उपदेश दूँ कि तुम मशीन का पिसा आटा खाना छोड़ दो, तो वह कह सकती है कि इस अवस्था में मुझे हाथों चक्की चलानी पड़ेगी। पर क्या चक्की चलाने का पाप मुझे लगेगा? नहीं। जब मुझे मशीन के आटे के त्याग का उपदेश देना पड़ेगा, तो मुझे यह बताना पड़ेगा कि मशीन और चक्की से होने वाले पाप में कितना अन्तर है? मुझे कहना होगा कि मशीन से पिसे और चक्की से पिसे आटे में नैतिक दृष्टि से इतना ही अन्तर है जितना अन्तर मक्खन निकले दूध में और बिना मक्खन के दूध में है। दीखने में तो दोनों प्रकार के दूध एक-से रंग

के दिखाई देते हैं परन्तु वास्तव में दोनों में बहुत भेद है। इसी प्रकार मशीन-चक्की और हाथ-चक्की से होने वाले आरंभ में भी महान् अल्प का अन्तर है। मशीन-चक्की में महा-आरम्भ है और हाथ-चक्की में अल्प-आरम्भ है। इस नैतिक और पारमार्थिक दृष्टि से मशीन-चक्की का आटा खाना त्याज्य है। चर्बी से बना हुआ घी और बाजारू दूध-दही आदि त्याग दोगे तो अहिंसा की अपूर्व ज्योति से तुम्हारा हृदय जगमगा जायगा। इस प्रकार जब महा-आरम्भ से बचना होता है तब अल्प-आरम्भ के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग ही नहीं रहता। आरम्भ मात्र से उसी अवस्था में बचा जा सकता है जब आरंभ-जनक कृत्यों को और उसके फल को सर्वथा त्याग दिया जाय। इसलिए गांधीजी कहते हैं—अगर खादी पहनना है तो चर्खा चलाने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है। चर्खा नहीं चलाओगे तो मील का आसरा खोजना पड़ेगा। अतएव यह विचारना आवश्यक है कि अधिक आरंभ मील में होता है या चर्खे में? मील में अधिक आरंभ होता है, इस सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है? वह मील, जिसमे घोर आरंभ होता है, चर्खा चलाए विना वंद नहीं हो सकता, और मील वंद हुए विना महा-आरम्भ रुक नहीं सकता।

खादी में अल्प-आरंभ

जहाँ तक तुम गृहस्थ हो, वहाँ तक महा-आरंभ का त्याग करने के लिए अल्प-आरंभ का आश्रय लिए विना काम नहीं चल सकता। किसी मांसाहारी को मांस-भक्षण त्यागने का उपदेश दिया जाय, तो यह नहीं कहा जा सकता कि तुम भूखों मर जाओ। उसे तो यही कहना होगा कि-तुम्हारा जीवन अगर शुद्ध और सात्त्विक आहार से टिक सकता है तो अशुद्ध मांस-भक्षण का त्याग करो। मांस का त्याग करने वाले को आखिर अन्न का आधार तो चाहिए। इस प्रकार जब महा-आरंभ का त्याग करना हो तो अल्प-आरंभ का आश्रय लेने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।

गांधी जी महा-आरंभ का त्याग कराते हैं। जो स्वयं महा-आरंभ का त्याग करता है और दूसरों से त्याग कराता है, वह अहिंसक है। इस प्रकार हिंसा के त्याग की बात स्वीकार करना जैनदृष्टि से न बुरा है और न पापमय ही। इस बात को भलीभांति समझ कर खादी के और चर्बी लगे कपड़ों में से, जिसमें महा-आरंभ हो उनका विवेक के साथ त्याग कर देना चाहिए। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा।

चर्बी के वस्त्र

साधु-संतों की यह विशेष जिम्मेवरी है कि वे तुम से चर्बी के वस्त्रों का त्याग करावें। साधु-संत अपनी जिम्मेवरी को समझें तो अहिंसा का पालन हो

सकता है और तुम से चर्बी के वस्त्रों का त्याग भी कराया जा सकता है. किन्तु जब तक वे स्वयं चर्बी के वस्त्रों का त्याग नहीं करते, तब तक दूसरों से कैसे करा सकते हैं! अगर त्याग करने का उपदेश भी देवें तो उसका प्रभाव ही क्या पड़ सकता है? गान्धीजी स्वयं तो चर्बी के वस्त्र पहनें और दूसरें से त्याग करने को कहें तो उनके कथन का जनता पर असर नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार साधुवर्ग जब तक स्वयं चर्बी के वस्त्रों का त्याग नहीं करता, तब तक उसके उपदेश का रंचमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ सकता।

कोई यह कह सकता है कि—साधु गृहस्थ के घर से वस्त्र लाते हैं। इस अवस्था में उन्हें जैसे मिल जाते हैं वैसे ही पहनने पड़ते हैं। पर इस कथन में कोई जान नहीं है। जब चर्बी के वस्त्र उन्हें मिल जाते हैं, तो तलाश करने पर क्या बिना चर्बी के-खादी के-वस्त्र नहीं मिल सकते? अतएव सर्वप्रथम साधुओं को चर्बी के कपड़ों का त्याग करना चाहिए। बाद में दूसरों को उनके त्याग का उपदेश देना चाहिए। जिन चर्बी के वस्त्रों के लिए घोर हिंसा की जाती है उन वस्त्रों का त्याग करना ही तुम्हारे लिए उचित है। अगर तुमने अहिंसा को समझा है, तुम भगवान् महावीर को समझ पाये हो तो चर्बी के वस्त्रों का त्याग करने से स्वार्थ के साथ परमार्थ भी सधता है। इससे जीवन में सादगी आती है और अहिंसा की आराधना होती है। चर्बी के वस्त्रों के लिए कैसे कैसे भयंकर हत्याकाण्ड होते हैं यह सब जानते-बूझते हुए भी उन वस्त्रों का उपयोग करना अहिंसा की अवहेलना करना है।

सुना है, एक गज रेशमी कपड़े के लिए हज़ारों जीवित कीड़े उकलते हुए पानी में उबाल कर मार दिये जाते हैं। तुम भगवान महावीर के शिष्य हो। अहिंसा के उपासक हो। ऐसी पापमयी वस्तुओं के त्याग में ही तुम्हारा कल्याण है और इसी में भगवान् महावीर की उपासना और अहिंसा की आराधना है।

अगर तुम चर्बी लगे मील के वस्त्रों का त्याग करो तो तुम्हारी क्या हानि होगी? ऐसा करने में सरकारी रुकावट है? सरकार की ओर से ऐसी कोई रोक-टोक नहीं है। फिर भी अगर कोई सरकार के डर से चर्बी के कपड़े नहीं छोड़ता तो वह देवादिक का उपसर्ग उपस्थित होने पर किस प्रकार निर्भय और निश्चल बना रह सकेगा? राजा अगर सच्चा राजा है तो चर्बी के कपड़े त्याग कर खादी पहनने के कारण तुम से कदापि अप्रसन्न न होगा। कदाचित् कोई राजा नाराज़ हो भी जाय तो अन्त में उसे ठिकाने पर आना ही पड़ेगा। तुम खादी को पहनने से डरते क्यों हो? अगर तमाम स्त्रियाँ और पुरुष खादी पहनने का निश्चय कर लें तो क्या हानि होने की संभावना है? ऐसा करने से तुम्हारा कौनसा कार्य रुक जाता है? अगर यह बात तुम्हारी समझ में आ गई तो मिल के वस्त्रों का त्याग करने की प्रतिज्ञा कर सकते हो। पर त्याग केवल देखादेखी नहीं होना चाहिए। तत्त्व को भलीभाँति समझ-बूझकर त्याग करना चाहिए। तुम जिस देश में जन्मे

हो, जहाँ के अन्न, जल और वायु से तुम्हारा पोषण हुआ है, उसी देश में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं का तुम्हें त्याग करना चाहिए। उस वस्तु से तुम्हारा जीवन-निर्वाह सरलता से हो सकेगा और साथ ही तुम महा-आरंभ से भी बच जाओगे। अल्पारंभ से ही तुम्हारा कार्य चल जायगा।

अहिंसा और सुख

अहिंसा का पालन करने से दुख की संभावना ही नहीं की जा सकती। आज-कल जो व्याधियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं उनका दायित्व अहिंसा पर नहीं, हिंसा पर है। शास्त्र मलीन रहने का अथवा गंदगी भरे रहने का आदेश नहीं देता। सच तो यह है कि गंदगी एवं मलीनता से ही रोग उत्पन्न होते हैं; और यह हिंसा का ही एक प्रकार है।

इसी प्रकार रगड़े-झगड़े क्लेश-द्वेष आदि का मूल करण भी हिंसा ही है। अहिंसा के कारण आज तक कोई झगड़ा नहीं हुआ। न्यायालय में जाकर तलाश करो तो विदित होगा कि अहिंसा के कारण एक भी मुकदमा वहाँ न पहुँचा होगा। अहिंसा सदैव सुख का कारण है।

हाथी के मंडल में, आत्मरक्षा के लिए इतने पशु इकट्ठे हुए थे कि हाथी को पैर रखने की भी जगह न बच पाई। ऐसे अवसर पर हाथी को क्रोध पैदा हो सकता था या नहीं? तुम्हारे सामने कोई आकर बैठ जाय तो इतने से ही तुम्हारा क्रोध उमड़ पड़ता है। क्या दयाधर्म के अनुयायी होने के कारण ऐसा होता है? हाथी के मंडल में अनगिनती जानवर घुस आये थे और तिल भर भी जगह न रहने दी थी। बेचारे एक खरगोश को कहीं जगह नहीं मिलती थी। वह बड़ी मुसीबत में था। इतने में ही हाथी ने पैर ऊँचा किया। हाथी का पैर ऊँचा करना था कि खरगोश उस खाली हुई जगह में बैठ गया। हाथी चाहता तो खरगोश पर पैर रख देता और उसे कुचल देता। किन्तु दया से द्रवित हाथी ने ऐसा नहीं किया। उसने अपना पैर ऊँचा ही रक्खा। हाथी जानता था, सच्चा घर वही है जहाँ दीन-दुखियों को विश्राम मिलता है। घर आया अतिथि कष्ट न पावे, इस बात का ध्यान रखने वाला ही सच्चा घर-मालिक है। हाथी को ऐसा उदार विचार आया। इस विचार के कारण हाथी ने बीस प्रहर तक अपना एक पैर अधर उठा रक्खा-नीचा नहीं किया। हाथी जैसे स्थूल शरीर वाले प्राणी के लिए तीन पैरों पर इतने लम्बे समय तक खड़ा रहना कितना कष्टकर है! मगर हाथी ने इसे कष्ट नहीं, आनन्द माना। परिणाम यह हुआ कि हाथी मर कर प्रसिद्ध मगध-सम्राट् श्रेणिक का पुत्र हुआ।

जब इस प्रकार का दयाभाव हृदय में प्रकट हो तो सम्यक्त्व का सद्भाव समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि इस बात का विचार रखता है कि उसके रहन-सहन खान-पान आदि से कितने जीवों को क्या कष्ट पहुँच रहा है! तुम अपने विषय में इस

प्रकार सावधान रहोगे तो हिंसा से बच सकोगे और अपना तथा दूसरों का कल्याण करोगे।

अहिंसा

एक आदमी गंगा के किनारे खड़ा रो रहा था। वह इतने जोर से रो रहा था कि राहगीरों को भी उस पर दया आती थी। किसी राहगीर ने उससे पूछा–भाई रोते क्यों हो ? तुम्हें क्या कष्ट है ? रोने वाले ने रोते-रोते कहा—मुझे जोर की प्यास लगी है।'

राहगीर बोला—तो रोने से मतलब ? सामने गंगा बह रही है। निर्मल जल है। शीतल है। मधुर है। पी ले। प्यास बुझा ले।'

रोने वाले ने कहा—'हाय ! गंगा-जल कैसे पीऊँ ! गंगा की धारा इतनी चौड़ी है और मेरा मुँह जरा सा है। इतनी चौड़ी धारा मुँह में समाएगी कैसे ?

राहगीर का करुण रस, हास्य में परिवर्तित हो गया। उसने हँसते हुए कहा—'मूर्खराज ! तुझे अपनी प्यास मिटाने से मतलब है या गंगा की धारा मुँह में भरने से ? अगर तू इसी विचार में डूबा रहेगा तो प्यास का मारा प्राण खो बैठेगा। न गंगा की धारा इतनी छोटी होगी कि तेरे मुँह में समा जाय; न तेरा मुँह इतना बड़ा होगा कि वह उसे अपने भीतर घुसेड़ सके।

यही बात उन लोगों पर चरितार्थ होती है जो हिंसा की व्यापकता को देखकर उससे जरा भी निवृत्त होने की चेष्टा नहीं करते। कुछ लोग ऐसे हैं जो सूक्ष्म हिंसा को अपनी जवाबदेही समझते हैं। ऐसे लोग न स्थूल हिंसा से बच पाते हैं, न सूक्ष्म हिंसा से ही। वे न इधर के रहते हैं, न उधर के रहते हैं।

जो लोग गृहस्थी में रहना चाहते हैं, गृहस्थी का उत्तरदायित्व सिर पर ओढ़े हुए हैं, मगर साधु की क्रिया का पालन करना चाहते हैं, वे एक साथ दो घोड़ों पर सवार होने के समान हास्यास्पद चेष्टा करते हैं। गृहस्थ को अग्नि से काम पड़ता है, पानी का व्यवहार करना पड़ता है, मिट्टी का उपयोग करना पड़ता है। जैन-शास्त्र ने इन सब में जीव का अस्तित्व स्वीकार किया है। ऐसी दशा में गृहस्थ उनसे कैसे बच सकता है ?

हिंसा–अहिंसा का मर्म न जानने के कारण आज सूक्ष्म हिंसा के बदले स्थूल हिंसा की प्रचुरता हो गई है। पर दोष शास्त्र का नहीं, उसे न समझने वाली बुद्धि का है। गृहस्थ को पहले स्थूल हिंसा से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। स्थूल हिंसा से मेरा प्रयोजन उस हिंसा से है जिसके करने में, मनुष्य जगत् में हिंसक कहलाता है, जिसके लिए राजा दंड देता है। जिसका कानून निषेध करता है,

और शास्त्र में जिसे श्रावक के लिए त्याज्य ठहराया गया है।

मैंने स्थूल हिंसा की जो व्याख्या की है, उसका अभिप्राय आप समझ गये होंगे। इसलिए मै पूछता हूँ—किसी गृहस्थ के घर में चोर घुस जाय अथवा कोई दुष्ट पुरुष, स्त्री की लज्जा का हरण करे और उसे ऐसा न करने देने के प्रयास में उसके प्राण चले जाएँ तो क्या राजा मारने वाले को हिंसा का अपराधी ठहराएगा? कोई उसे हिंसक कहेगा? पापी बताएगा? नहीं! व्यवहार में ऐसा पुरुष बहादुर कहलाता है। ऐसी हिंसा शास्त्र में सापराधी की हिंसा कहलाती है। जो पुरुष ऐसी हिंसा से बचना चाहता है, वह गृहस्थ कहलाने योग्य नहीं है। उसे पडिमा धारण करके संसार के सब झंझट त्याग कर जंगल का रास्ता लेना चाहिए।

फर्ज कीजिए कोई राजा श्रावक है। उसके देश पर दूसरा राजा चढ़ाई करके आया। अब उस श्रावक राजा का क्या कर्त्तव्य है? वह देश की रक्षा के लिए आक्रमणकारी का अस्त्र-शस्त्र से सामना करे या घर में छिप कर बैठा रहे? जो राजा संग्राम से डरेगा उसे लोग कायर कहेंगे, क्रूर कहेंगे। यदि उस राजा को वैराग्य हो तो उसे राजपाट छोड़ देना चाहिए। राज्यकार्य और ऐसा वैराग्य, दोनों एक साथ नहीं चल सकते। शास्त्रकार ऐसी हिंसा का श्रावक के लिए निषेध नहीं करते।

आज दस लखपति श्रावकों में इतनी हिम्मत नहीं है कि अपने साथ की एक स्त्री के ऊपर कोई हमला करे तो वे उसे बचा सकें। वे अपने प्राण के भय से उस स्त्री को छोड़ कर भाग जाएँगे। क्या सच्चे श्रावक का यही लक्षण है?

कई लोग कहेंगे—वे अहिंसा के उपासक हैं, इस कारण भाग जाएँगे। मगर यह झूठी बात है—बहानेबाज़ी है। मै कहूँगा—उनमें वीरता नहीं थी, इसलिए वे भागे। आप याद रखिए, इस प्रकार की अहिंसा कायरता है। अहिंसा कायरों के लिए नहीं है। अहिंसा वीरों का भूषण है। जो गृहस्थ अपनी बेटी का बाप बनना चाहता है, पुत्र का पिता बनना चाहता है और स्त्री का पति बनना चाहता है, मगर उन पर आपत्ति आने के समय भाग छूटता है, वह बेटी का बाप नहीं है, पुत्र का पिता नहीं है और बहिन का भाई नहीं है। वह डरपोक है। जैन शास्त्रों ने ऐसे समय में भागना बताया होता तो तीर्थंकरों की विद्यमानता में राजा लोग जैनधर्म को स्वीकार ही कैसे करते?

चेड़ा राजा के घर उनका एक दौहित्र हार और हाथी लेकर आया। मगधपति कोणिक ने कहलाया—हार और हाथी वापस भेजो, अन्यथा युद्ध करना पड़ेगा।

राजा चेड़ा ने सोचा—मेरी शरण में आया हुआ न्यायपथ पर है। मुझे इसी

का साथ देना चाहिए। कोणिक अन्याय-पथ पर हैं, क्योंकि इसे इसके हिस्से का राज्य नहीं देते। राजा चेड़ा को यह विचार भी आया कि कोणिक के साथ दस राजा और भी हैं। मैं अकेला हूँ। कैसे उनका सामना करूँगा?

मगर चेड़ा के पक्ष में न्याय था, सत्य था। सत्य के सामने संसार की समस्त शक्तियाँ परास्त हो जाती हैं। सत्य के प्रचण्ड बल के सामने शस्त्रास्त्रों का बल तुच्छ है। यह विचार कर चेड़ा ने तनिक भी चिन्ता न की। वह सत्य का सहारा लेकर अपनी बात पर अड़ा रहा।

राजा चेड़ा (चेटक) शरणागत का नाना था। आप खयाल कर सकते हैं कि चेड़ा ने नाना होने के कारण शरणागत का साथ दिया। मगर बात ऐसी नहीं है। नौ लच्छी (लिच्छिविवंशीय राजा) और नौ मल्ली (राजवंशविशेष) तो शरणागत के कुछ नहीं लगते थे। वे श्रावक थे। उन्होंने उसका साथ क्यों दिया? इसीलिए कि वे वीर थे। उन्होंने अन्याय सहन नहीं किया। वे सत्य के पक्षपाती थे।

जिन दिनों ऐसे वीर श्रावक होते थे उन्हीं दिनों जैनधर्म की जाहोजलाली थी। आज के धनवान तो अपनी ही इज्जत नहीं बचा सकते।

आखिर कोणिक और चेड़ा का युद्ध हुआ। युद्ध में कोणिक के छक्के छूट गये। तब इन्द्र उसकी सहायता के लिए आया। जिस युद्ध में साक्षात् इन्द्र भाग लेता है वह कितना भयानक युद्ध होगा? इन्द्र के विरुद्ध लड़ने वाले श्रावकों के धैर्य का, उनकी वीरता का और उनके पराक्रम का जिह्वा कैसे वर्णन कर सकती है?

क्या संग्राम करना पाप नहीं है? है। पर इस युद्ध का पाप कोणिक के सिर आता है, क्योंकि हिंसा की प्रवृत्ति कराने वाला कोणिक है। चेड़ा का उद्देश्य अन्याय का प्रतीकार करना है।

इस दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गृहस्थ आवश्यकता पड़ने पर, त्याग, सत्य और धर्म की रक्षा के लिए, अपने कर्त्तव्य का समुचित रूप से पालन करने के लिए सापराधी हिंसा से काम लेता है। वह केवल निरपराध जीवों की हिंसा का त्यागी होता है।

अनुकम्पा

अनुकम्पा का गुण हीनाधिक परिमाण में प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहता है; परन्तु जब स्वार्थ के कारण हृदय में चंचलता आती है तो अनुकम्पा अदृश्य हो जाती है। गाय किसी को-यहां तक कि कसाई को भी-खट्टा दूध नहीं देती। फिर भी कसाई के हृदय में स्वार्थ के कारण या विषयलालसा के कारण चंचलता उत्पन्न होने से वह निर्दयतापूर्वक गाय की हत्या करता है। विषय-लालसा से हृदय

में चंचलता उत्पन्न होती है और चंचलता के कारण अनुकंपा का भाव कम हो जाता है या थोड़ी देर के लिए विलीन हो जाता है।

तुम्हारे अन्तःकरण में पशुओं के प्रति दया का जो भाव है, वह सच्चा है या दिखावा है? इस प्रश्न पर प्रामाणिकता के साथ आत्मसाक्षी से विचार करो। अगर तुम्हारे अन्तःकरण में पशुओं के प्रति सच्ची दया है तो क्या तुम ऐसी वस्तुओं का व्यवहार कर सकते हो, जिनके लिए पशुओं का निर्दयतापूर्वक हनन किया जाता है?

तुम गाय को मारने के लिए तैयार न होओगे, पर तुम्हारे सामने गाय के चमड़े के बने सुंदर और सुकोमल बूट रक्खे जाएँ अथवा गाय की चर्बी के वस्त्र तुम्हें दिये जाएँ तो तुम उन्हें अपनाओगे या नहीं? यों तुम गाय को गोमाता कह कर पुकारते हो, पर तुम्हारे कारण गायमाता की दशा कितनी भयावह, कितनी दयनीय, हो रही है, इस बात पर कभी विचार ही नहीं करते। क्या तुमने कभी विचार किया है कि तुम जिस मुलायम और सुन्दर चमड़े के बूट पहनते हो वह किसके चमड़े के बने हैं?

तुम कह सकते हो, तब क्या जूता पहनना छोड़ दिया जाय? नंगे पैरों चला जाय? मगर ऐसा नहीं। भारतवर्ष में, चमड़े के लिए पहले पशुओं का कभी घात नहीं किया जाता था। जो पशु स्वाभाविक मृत्यु से मर जाते थे उनके चमड़े के जूते बनाये जाते थे। आज खास तौर से चमड़े के लिए ही पशुओं का घात किया जाता है। इतना ही नहीं, चमड़ा मुलायम और सुन्दर हो, इसलिए उन पशुओं को अत्यन्त निर्दयता के साथ मारा जाता है। क्या तुमने ऐसी सुन्दर और मुलायम चमड़े की चीज़ों का त्याग किया है? अगर त्याग नहीं किया है, तब भी क्या तुम मानते हो कि पशुओं के प्रति तुम्हारे दिल में दयाभाव है?

कल्पना कीजिए, आपके सामने द्रौपदी नग्न की जा रही है और उसके शरीर के वस्त्र उतार कर आपको कोट-कमीज़ बनवाने के लिए दिये जा रहे हैं। तो क्या आप उन वस्त्रों को लेना और पहनना पसंद करेंगे? आप कहेंगे—जो वस्त्र द्रौपदी माता को नग्न करने के उद्देश्य से खींचे गये हैं, उन्हें हम कैसे हाथ लगा सकते हैं? मगर जो वस्त्र आपकी माता—जन्मभूमि को नंगी करके, दरिद्र बना कर आपके सामने पेश किये जाते हैं, उनका उपयोग करने का भी आपने त्याग किया है? आपने अब तक हिंसामूलक वस्त्रों का और चमड़े का त्याग नहीं किया. इसका एक मात्र कारण यह है कि आपके अन्तःकरण में अभी भूतदया की भव्य भावना का उदय नहीं हुआ है। जिस दिन भूतदया की भावना से आपका हृदय पूत होगा, उस दिन आप ऐसे हिंसाजनक वस्त्रों का और अन्य वस्तुओं का उपयोग करना छोड़ देंगे।

हृदय में अनुकम्पा का भाव उदित होने से एक प्रकार की मृदुता का आवि-

भाव होता है। मृदुता के आविर्भाव से अनुद्धतता का जन्म होता है—निरभिमानता उत्पन्न होती है। अनुकम्पा से हृदय नम्र बन जाता है और नम्र हृदय में अभिमान नहीं उत्पन्न होता। अनुकम्पा से विभूषित मनुष्य पराये दुःख को अपना दुःख मानता है और उसे दूर करना अपने दुःख को ही दूर करना समझता है। वही सच्ची अनुकम्पा है जिसमें अभिमान और लालसा न हो।

अहिंसा की शक्यता

कुछ लोगों को शंका हुआ करती है कि अब सम्पूर्ण भूमण्डल ही जीवों से व्याप्त है और शरीर द्वारा जीवों का मरण भी स्वाभाविक है, तो फिर मुनि पूर्णरूपेण अहिंसक कैसे हो सकते हैं?

इस शंका का समाधान यह है कि मुनि के शरीर से जीवों का मरजाना स्वाभाविक है पर देखना तो यह है कि मुनि का उद्देश्य क्या है? क्या मुनि का भाव जीव मारने का है? वास्तव में हिंसा वह है जो प्रमाद के योग से या विषय-पोषण के लिए की जाती है। इसके अतिरिक्त जो हिंसा होती है वह पाप रूप नहीं गिनी जा सकती। उदाहरण के लिए–कोई मुनि ईर्यासमिति पूर्वक यतना से चल रहा हो, फिर भी अगर कोई जीव उसके पैर के नीचे आकर मरजाय तो मुनि को उसकी हिंसा का पाप नहीं लगता। इसके विपरीत कोई मुनि अगर ईर्यासमिति-पूर्वक–यतना से न चल रहा हो और कोई जीव न मरे तो भी वह मुनि अयतना के कारण पाप का भागी होता है, क्योंकि हिंसा प्रमाद से होती है, बल्कि प्रमाद ही हिंसा है। इसी प्रकार विषय–लोलुपता भी हिंसा का कारण है।

ऐसी स्थिति में अप्रमत्त भाव से, विषय-वासनाहीन मनोवृत्ति के साथ विचरने वाला साधु हिंसा का भागी नहीं हो सकता।

वीर-धर्म

भगवान् महावीर ने जो शिक्षा दी है वह कायरता लाने के लिए नहीं, वीरता प्रकट करने के लिए दी है। तुम उस वीरशिक्षा का उल्टा अर्थ करके कायर मत बनो। वीर के हाथ में तलवार हो तो वह अपनी रक्षा करता है, साथ ही दूसरों की भी। वहीं तलवार कायर के हाथ में पड़ जाती है तो उसकी प्राण हानि का कारण बनती है। कायर उस तलवार का अपमान कराता है।

तुम्हें वीर-धर्म मिला है। उसे विपरीत समझ कर उसका अर्थ उल्टा करके कायर मत बनो। वीर धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाओ। प्रतिष्ठा न बढ़ा सको तो कम से कम उसे बदनाम मत कराओ।

सत्य

जिस विचार, बात और कार्य का त्रिकाल में भी पलटा न हो, जिसको अपनी आत्मा निष्पक्ष भाव से अपनावे, जिसके पूर्ण रूप से हृदय में स्थित हो जाने पर भय, ग्लानि, अहंकार, मोह, दम्भ, ईर्षा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि कुत्सित भाव निःशेष हो जावें, जो भूत में था, वर्तमान में है और भविष्य में होगा तथा जिसके होने पर आत्मा को वास्तविक शांति प्राप्त हो, उसी का नाम 'सत्य' है।

सत्य प्रकृतिदत्त गुण

प्रकृति ने मनुष्य के हृदय में एक से एक उत्तम गुण पैदा किये हैं। उत्तम गुण के लिए मनुष्य को कहीं जाना नहीं पड़ता, वे तो सर्वथा स्वाभाविक होते हैं। यदि मनुष्य कुसंग में पड़कर बुरी बातें अपने हृदय में न भर ले, और जन्म से ही सत्य के वातावरण में पले, तो सम्भवतः वह असत्याचरण का विचार भी न करे। यदि किसी शिशु को, सत्यासत्य विवेक का उपदेश न भी दिया जाय, किन्तु असत्य-आचरण उसके सामने न किया जाय तो निश्चित ही वह सत्य का अनुगामी बनेगा। सारांश यह है कि 'सत्य' एक प्रकृतिदत्त गुण है।

सत्य एक व्यापक और सार्वभौम सिद्धांत है। संसार में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं और उनके सिद्धांत की पृथक्-पृथक् हैं। बहुत से मतों के ऊपरी सिद्धांत तो इतनी भिन्नता रखते हैं कि एक मतानुयायी दूसरे मतानुयायी से नहीं मिल पाता, बल्कि इन्हीं ऊपरी सिद्धांतों को लेकर प्रायः आपस में महायुद्ध मचा देते हैं। ऐसा होते हुए भी, सब मतावलम्बी यदि गम्भीरतापूर्वक निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो मालूम होगा कि धर्म की नींव 'सत्य' के ऊपर ही है और वह सत्य सबके लिए एक है। उस सत्य को समझ लेने पर वे ही लोग, जो आपस में धर्म के नाम पर द्वेष रखते हैं, द्वेषरहित होकर एक दूसरे से गला मिलाकर भाई की तरह प्रेमपूर्वक रह सकते हैं।

सत्य के तीन भेद

जिस विचार में संसार के किसी प्राणी को कष्ट देने की कल्पना न की गई हो, जिसके प्रकट कर देने पर किसी प्रकार की कुत्सित भावना का परिचय न मिले और वस्तुस्थित्ति का ज्ञान प्राप्त करके निष्पक्षभाव से प्राणी मात्र को अपना मित्र समझते हुए जो विचार किया जाय वह मानसिक सत्य है।

जिस वाणी में, किसी को अनुचित कष्ट पहुँचने योग्य बात न कही गई हो, जिसने वक्ता को निःस्वार्थभाव से केवल सत्य का स्पष्टीकरण करने के लिए कही

हो, जो बात जैसी देखी, सुनी, समझी है, उसको वैसे ही वैसे समझाने को कही हो, वह वाचिक—अर्थात्—वाणी का सत्य है।

जिस कार्य के करने से संसार के किसी प्राणी का अहित न होकर हित ही हो, जो स्वार्थ, छल, दम्भ, ईर्ष्या, द्वेषादि दुर्गुणों से रहित हो, शास्त्र में वर्णित नीति को जिस कार्य से क्षति न पहुँचती हो, वह 'कायिक-सत्य'।

उपरोक्त तीनों भेदों का एकीकरण हो जाने कर शास्त्र में जिस सत्य को भगवान् ने कहा है वह सत्य तैयार हो जाता है अर्थात् ऐसे सत्य को पूर्ण रूप से पालन करने वाले में और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं रहता।

सत्य से उत्कृष्ट सिद्धि, असत्य से हानिया

सत्य-विचार सत्य-भाषण और सत्य-व्यवहार करने वाला मनुष्य ही, उत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जिस मनुष्य में सत्य नहीं है, समझना चाहिए कि उसकी देह जीवरहित काष्ठ पाषाण की तरह, धर्म के लिए अनुपयोगी है।

मनुष्य को असत्याचरण से प्रकट में चाहे कुछ लाभ दीखें परन्तु वे लाभ क्षणिक-अस्थायी होते हैं तथा उस लाभ के पीछे अनेक ऐसी हानियां छिपी रहती हैं, जो उस समय नहीं दीखतीं।

जो सत्य का आचरण नहीं करता, वह संसार में कभी भी सुखी नहीं रह सकता, न उसका कोई आदर ही करता है। जब इस लोक के लिए यह बात है तब परलोक के लिए भी यही बात हो, तो इसमें सन्देह ही क्या है ?

प्रकृति का सत्यानुसरण

प्रकृति ने, मनुष्य को ही सत्याचरण नहीं सिखाया, बल्कि वह स्वयं भी सत्य का अनुसरण करती है। समयानुसार ऋतुओं का परिवर्त्तन और ग्रह-उपग्रहों का ठीक-ठीक अपने कक्ष पर चलना भी, सत्य की पुष्टि करता है। यदि गर्मी की ऋतु के स्थान पर वर्षा-ऋतु और वर्षा-ऋतु के स्थान पर हेमन्त-ऋतु आदि उलट फेर हो जाया करे तो कैसी भारी गड़बड़ हो जाय, यह बात सब जानते हैं।

जिस प्रकार प्रकृति के नियम, सत्य का पालन करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के अन्दर भी एक ऐसा पदार्थ है, जो सदा सत्य-पालन का आदेश देता है। उस वस्तु का नाम 'आत्मा' है।

जो सत्य आत्मरूप से मनुष्य के हृदय में स्थित है, वही सत्य सारे संसार में भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देता है। प्रत्येक पदार्थ में यह किसी न किसी रूप में अवश्य मौजूद है। यदि वह न हो तो संसार की स्थिति ही एक विचित्र प्रकार की हो

जाय। सत्य की अनुपस्थिति में, मनुष्य ही मनुष्य के प्राणों का ग्राहक बन सकता है।

जिसके हृदय में सत्य होता है, वह मृत्यु को सामने खड़ी देखकर भी नहीं घबराता। यदि कोई मनुष्य उसका वध करने चलता है, तब भी वह ऐसी घबराहट में नहीं पड़ता, जैसी घबराहट में असत्य का आश्रय लेने वाला मनुष्य पड़ जायगा। सारांश यह कि सत्य के पालन करने वाले को किसी भी समय अशान्ति नहीं होती।

'सत्य' इस लोक और परलोक में कल्याण करनेवाला और 'असत्य' चक्कर में डालने वाला गुण है। इन दोनों भेदों को जानकर भी जो मनुष्य सत्य का पालन और असत्य का त्याग नहीं करता, वह बुद्धिमान् नहीं कहा जाता।

सत्य से शांतिलाभ

असत्य से मनुष्य को कभी भी शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति सदैव सत्य का आश्रय लेने से ही मिला करती है। जो मनुष्य असत्य में सुख का अनुभव करते हैं, उन पर असत्य का पूरा कब्जा हो चुका है, ऐसा समझना चाहिए।

सत्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारक सिद्धान्त है। इसके पालन करने वाले को तो सदैव आनन्द है ही: किन्तु जो व्यक्ति सत्य का पालन करने वाले व्यक्ति के सम्पर्क में एक बार भी आ जाता है और उसकी एक भी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह भी भविष्य में अपना कल्याण-मार्ग पा जाता है।

आत्म-बल (सत्य बल)

जो मनुष्य सत्य का आचरण करने लग जाता है, वह लोगों में देवता के समान पूजनीय हो जाता है। उसका आत्म-बल बढ़ जाता है और वह उस आत्म-बल द्वारा महान् से महान् कार्य भी कर डालता है। आत्म-बल, किसी भी बल से कम नहीं है, इस बल के सामने भौतिक-बल तुच्छ, हेय और नगण्य है।

जिन तोपों और मशीनगनों के नाम मात्र से लोग कांप उठते हैं, जिनकी गड़गड़ाहट की भयंकर ध्वनि से, लोगों के रोम-रोम खड़े हो जाते हैं, और गर्भवती स्त्रियों के गर्भपतन हो जाते हैं, वे ही तोपें तथा मशीनगनें, सत्य द्वारा बल प्राप्त करने वाले आत्मबली का एक रोम भी नहीं हिला सकतीं। उसके सामने, वे शाक-भाजी भरने के टोकरे के समान, निकम्मी हो जाती हैं।

पूर्ण सत्य-निष्ठा

गांधीजी अमेरिका की अतुल धन-राशि को सत्य के लिए ठुकरा सकते हैं पर आप लोगों में कोई ऐसा तो नहीं है जो आठ आने के लिए आठ बार असत्य

आचरण कर सकता हो ? अगर कोई ऐसा है तो उसे अपने इस पतन के लिए पश्चात्ताप नहीं होना चाहिए ? पश्चात्ताप की ज्वाला में उसे अपने पापों को भस्म करके भविष्य को निष्कलंक बनाना चाहिए। भीलों के विषय में कहा जाता है कि शपथ दिलाने पर वे. मरने से बचने के लिए भी झूठ नहीं बोलते। फिर आप कुलीन और धर्मात्मा कहला कर भी तुच्छ बात के लिए असत्य का आचरण करें तो कितना अनुचित है ? सत्य के प्रति गांधीजी की दृढ़ता से यह जाना जा सकता है कि जब आज भी इस प्रकार का सत्य-निष्ठ व्यक्ति हो सकता है तो अर्हन्तों के समय में पूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा हो तो, उसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? काम-देव श्रावक को गजब का भय दिखाया गया, पर उसने सत्य का परित्याग नहीं किया। सीता अनेक प्रलोभनों के आगे भी सत्य का ही आराधन करती रही। इन सब प्राचीन आख्यानों को गांधी जी की सत्य निष्ठा देखते हुए कपोल-कल्पना या मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? गांधी की सत्यनिष्ठा को देखते हुए सहज ही विचार आता है कि इस गये गुज़रे जमाने में भी अगर सत्य के प्रति ऐसी दृढ़ता दिखाने वाले पुरुष मौजूद हैं तो प्राचीन काल में ऐसे सत्यनिष्ठ क्यों न रहे होंगे ?

सत्य पर सम्पूर्ण श्रद्धा होने और असत्य को आग्रह पूर्वक त्यागने में ही एकान्त कल्याण है। सब महापुरुषों के जीवन के अन्तस्तत्व में यही तथ्य समाया हुआ है।

सत्य भगवान्

सत्य भगवान् है, इसलिए सत्य की आराधना करो। सत्य का आसरा गहो। सत्य पर श्रद्धा रखो। सत्य का आचरण करो। मन से, वचन से और काया से सत्य की आराधना करो। सत्य भाषण करने से निडर बन जाओगे। सत्य बोलने से अगर कोई प्राण ले ले तो भी परवाह मत करो।

सत्य का ज्ञान

सत्य को अच्छी तरह से वे ही लोग जान सकते हैं, जिन्हें सत्य प्यारा है, जो सत्य के उपासक हैं, या होना चाहते हैं और सत्य के आगे त्रिलोक की ऋद्धि ही नहीं, बल्कि अपने प्राण तक को तुच्छ समझते हैं। किन्तु किसी एक सम्प्रदाय के, धर्म या मजहब के पीछे जो उन्मत्त है, जो स्वार्थवश अच्छे बुरे की परवाह नहीं करता, सत्य असत्या को न देख, केवल हां में हां मिलाना ही जानता है ऐसा मनुष्य पूर्ण सत्य को नहीं पहिचान सकता।

सत्य

कदाचित् तुम सोचो कि हमारी सत्य बात मानी नहीं जायगी; लेकिन अगर कोई सत्य पर विश्वास नहीं करता तो तुम्हारी क्या हानि है ? तुम अपने सत्य

पर अटल रहो। असत्य के भय से सत्य को त्याग कर असत्य का आसरा लेने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारी सत्य बात नहीं मानी जायगी, यह विचार कर अगर भय किया तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हें सत्य पर पूर्ण विश्वास नहीं है। चिन्ता नहीं अगर कोई तुम्हारे सत्य पर विश्वास नहीं करता। भले ही तुम्हारे सत्य की लोग निन्दा करें, खिल्ली उड़ावें या सत्य के कारण भयंकर यातना पहुँचावें, परन्तु भय मत खाओ। अगर तुम भय खाते हो तो समझ लो कि तुम्हारे अन्तर के किसी न किसी कोने में सत्य के प्रति अश्रद्धा का कुछ भाव मौजूद है। सत्य पर जिसे पूर्ण श्रद्धा है वह निडर है। संसार की कोई भी शक्ति उसे भयभीत नहीं कर सकती।

तुम किसी से भय न करके सत्य ही सत्य का व्यवहार रक्खो तो, तुम जान जाओगे कि मुझे ईश्वर मिल गया। ईश्वर की शरण में जाने का उपाय है—सत्य! सत्य ईश्वरीय विधान है। तुम ईश्वर की शरण ले लोगे तो फिर किसी प्रकार का भय न होगा। भय का स्थान तो असत्य है। सत्य का ही व्यवहार करना और किसी से भय न खाना ही मोह को जीतना कहलाता है। अपनी-आत्मीय वस्तु का त्याग करके परकीय वस्तु को ग्रहण करना ही मोह कहलाता है। इसे छोड़ा और ईश्वर मिला।

मित्रो! अगर आप अपने प्रत्येक जीवन-व्यवहार को सत्य की कसौटी पर कसें, सत्य को ही अपनावें और सत्य पर पूर्ण श्रद्धा रखें तो आप ईश्वर की शरण में पहुँच सकेंगे और आपका अक्षय कल्याण होगा।

असत्य साहसशील नहीं होता। वह छिपना जानता है, बचना चाहता है। क्योंकि असत्य में स्वयं बल नहीं है। निर्बल का आश्रय लेकर कोई कितना निर्भय हो सकता है! सत्य अपने आप में बलशाली है। जो सत्य को अपना अवलम्ब बनाता है—सत्य के चरणों में अपने प्राणों को सौंप देता है, उसमें सत्य का बल आजाता है और उस बल से वह इतना सबल बन जाता है, कि विघ्न और बाधाएँ उसका पथ रोकने में असमर्थ सिद्ध होती हैं। वह निर्भय सिंह की भाँति निस्सं-कोच होकर अपने मार्ग पर अग्रसर होता चला जाता है।

सत्य को पहचानना

जिन्हें सत्य प्यारा है, जो सत्य के उपासक हैं, या होना चाहते हैं और सत्य के आगे त्रिलोक की ऋद्धि ही नहीं, बल्कि अपने प्राण तक को तुच्छ समझते हैं, किन्तु किसी एक सम्प्रदाय, धर्म या मज़हब के पीछे जो उन्मत्त हैं, जो स्वार्थवश अच्छे बुरे की परवाह नहीं करते, सत्यासत्य को न देख, केवल हां में हां मिलाना ही जानते हैं, ऐसे मनुष्य उस पूर्ण सत्य को नहीं पहिचान सकते।

चोरी का कारण

चोरी का सबसे बड़ा बाह्य-कारण अराजकता है। राज्य द्वारा भूखों मरतों की व्यवस्था नहीं की जाती, दुर्व्यसन नहीं मिटाये जाते, सामाजिक कुप्रथाओं, तथा मान बड़ाई के लिए चोरी करने वालों को नहीं रोका जाता और शिक्षा का प्रबंध नहीं किया जाता, तब चोरी करना स्वाभाविक है।

बहुत लोग समझते हैं कि हमारा काम बिना चोरी किये नहीं चल सकता। ऐसा समझना उसी प्रकार की कमज़ोरी और भूल है, जैसी कमज़ोरी और भूल नशेबाज की होती है जो यह समझता है कि बिना नशे के मेरा जीवन नहीं रह सकता।

नैतिक चोरी

एक रुपये की चोरी करने वाले पर मुक़द्दमा चलाया जाता है। पुलिस के अधिकारी और सरकारी वकील, न्यायाधीश के सामने जाते हैं और चोरी करने वाले को दण्ड दिलवाते हैं। न्यायाधीश अपना निर्णय देता है—एक रुपये की चोरी के अपराध में अमुक सज़ा दी जाती है। मगर दूसरी ओर वही न्यायाधीश और पुलिस का अधिकारी कहलाने वाला व्यक्ति रिश्वत खाता है, हज़ारों की थैली घूंस में डकार जाता है। क्या यह चोरी नहीं है?

पुलिस का कर्त्तव्य है—जनता के जान-माल की रक्षा करना। मगर पुलिस किस प्रकार जान-माल की रक्षा कर रही है, यह बात मेरी अपेक्षा आप और अच्छी तरह जानते हैं।

कर्त्तव्य की चोरी

अपने सिर पर लिए हुए कर्त्तव्य का पालन न करना भी एक प्रकार की चोरी है। दुनिया के तमाम अन्याय और नीति के विरुद्ध की जाने वाली खींचातानी चोरी के ही विभिन्न रूप हैं

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य शब्द कैसे बना है और वह क्या वस्तु है? सर्वप्रथम इस बात पर विचार करना चाहिए। हमारे आर्य-धर्म के साहित्य में ब्रह्मचर्य शब्द का उल्लेख मिलता है। जिन दिनों, अवशेष संसार यह भी नहीं जानता था कि वस्त्र क्या होते हैं और अन्न क्या चीज़ है? नङ्ग-धड़ङ्ग रहकर, कच्चा मांस खाकर अपना पाशविक जीवन यापन कर रहा था, उन दिनों भारत बहुत ऊँची सभ्यता का धनी था,

उस समय भी उसकी अवस्था बहुत उन्नत थी। यहाँ के ऋषियों ने, जो संयम, योगाभ्यास, ध्यान, मौन आदि अनुष्ठानों में लगे रहते थे, संसार में ब्रह्मचर्य नाम को प्रसिद्ध किया। ब्रह्मचर्य का महत्त्व तभी से चला आता है, जब से धर्म की पुनः प्रवृत्ति हुई। भगवान् ऋषभदेव ने धर्म में ब्रह्मचर्य को भी अग्रस्थान प्रदान किया था। साहित्य की ओर दृष्टिपात कीजिए तो विदित होगा कि अत्यन्त प्राचीन साहित्य-आचारांग सूत्र तथा ऋग्वेद में भी ब्रह्मचर्य की व्याख्या मिलती है। इस प्रकार आर्य प्रजा को अत्यन्त प्राचीन काल से ब्रह्मचर्य का ज्ञान मिल रहा है।

ब्रह्मचर्य की शक्ति

आजकल ब्रह्मचर्य शब्द का सर्वसाधारण में कुछ संकुचित-सा अर्थ समझा जाता है। पर विचार करने से मालूम होता है कि वास्तव में उसका अर्थ बहुत विस्तृत है। ब्रह्मचर्य का अर्थ बहुत उदार है अतएव उसकी महिमा भी बहुत अधिक है। हम ब्रह्मचर्य का महिमागान नहीं कर सकते। जो विस्तृत अर्थ को लक्ष्य में रख कर ब्रह्मचारी बना है, उसे अखंड ब्रह्मचारी कहते हैं। अखंड ब्रह्मचारी का मिलना इस काल में अत्यन्त कठिन है। आजकल तो अखंड ब्रह्मचारी के दर्शन भी दुर्लभ हैं। अखंड ब्रह्मचारी में अद्भुत शक्ति होती है। उसके लिए क्या शक्य नहीं है? वह चाहे सो कर सकता है। अखंड ब्रह्मचारी अकेला सारे ब्रह्माण्ड को हिला सकता है। अखंड ब्रह्मचारी वह है जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों को और मन को अपने अधीन बना लिया हो—जो इन्द्रियों और मन पर पूर्ण आधिपत्य रखता हो। इन्द्रियाँ जिसे फुसला नहीं सकतीं, मन जिसे विचलित नहीं कर सकता। ऐसा अखंड ब्रह्मचारी ब्रह्म का शीघ्र साक्षात्कार कर सकता है। अखंड ब्रह्मचारी की शक्ति अजब गज़ब की होती है।

ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ

परमात्मा के प्रति विश्वास स्थिर क्यों नहीं रहता? यह प्रश्न अनेकों के मस्तक में उत्पन्न होता है। इसका उत्तर ज्ञानी यह देते हैं कि आन्तरिक निर्बलता ही परमात्मा के प्रति विश्वास को स्थायी नहीं रहने देती। परमात्मा के प्रति विश्वास न होने के जो कारण हैं, उनमें से एक कारण है ब्रह्मचर्य का अभाव। जीवन में यदि ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा हुई तो निस्संदेह ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभाव स्थायी रह सकता है।

ज्ञानी जन कहते हैं-समस्त इंद्रियों पर अंकुश रखना और विषय-भोग में इंद्रियों को प्रवृत्त न होने देना, पूर्ण ब्रह्मचर्य है। और वीर्य की रक्षा करना अपूर्ण ब्रह्मचर्य है। आज वीर्यरक्षा तक ही ब्रह्मचर्य की सीमा स्वीकार की जाती है पर वास्तव में सब इंद्रियों और मन को विषयों की ओर प्रवृत्त न होने देना पूर्ण ब्रह्मचर्य है। केवल वीर्यरक्षा अपूर्ण ब्रह्मचर्य है अलबत्ता अपूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा पूर्ण ब्रह्मचर्य तक पहुँचा जा सकता है।

वीर्य का दुरुपयोग

देश में आज जो रोग, शोक, दरिद्रता आदि जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होते हैं उन सब का एक मात्र कारण वीर्यनाश है। आज बेकार वस्तु की तरह वीर्य का दुरुपयोग किया जा रहा है। लोग यह नहीं जानते कि वीर्य में कितनी अधिक शक्ति विद्यमान है। इसी कारण विषय-भोग में वीर्य का नाश किया जा रहा है। उसी में आनन्द माना जा रहा है। ऐसा करने से जब अधिक संतान उत्पन्न होती है तो घबराहट पैदा होती है। पर उनसे मैथुन त्यागते नहीं बनता। भारतीयों को इस प्रश्न पर गहरा विचार करना चाहिए। विदेशी लोग ब्रह्मचर्य की महत्ता भले ही न समझते हों या स्वीकार न करते हों, परन्तु भारत में तो ऐसे महान् ब्रह्मचारी हो गये हैं जिन्होंने ब्रह्मचर्य द्वारा महान् शक्ति लाभ कर जगत् के समक्ष यह आदर्श उपस्थित कर दिया है कि ब्रह्मचर्य के प्रशस्त पथ पर चलने में ही मानव-समाज का कल्याण है। ब्रह्मचर्य ही कल्याण का मार्ग है। यह समझते-बूझते हुए भी विषय-भोग में सुख मानना और जब संतान उत्पन्न हो तो उसका निरोध करने के लिए कृत्रिम उपाय काम में लाना घोर अन्याय है। वीर्य को वृथा बर्बाद करने के समान दूसरा कोई अन्याय नहीं है।

हमारे अन्दर जो शांति और साहस है वह वीर्य के ही प्रताप से है अगर शरीर में वीर्य न हो तो मनुष्य हलन-चलन गमनागमन आदि क्रियाएँ करने में भी समर्थ नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व

जो भाई-बहिन अपने ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे वे संसार को अनमोल रत्न प्रदान करने में समर्थ हो सकेंगे। हनुमानजी का नाम कौन नहीं जानता? आलंकारिक भाषा में कहा जाता है कि उन्होंने लक्ष्मणजी के लिए द्रोण पर्वत उठाया था। उसी पर्वत का एक टुकड़ा गिर पड़ा, जो गोवर्धन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अलंकार का आवरण दूर कर दीजिए और विचार कीजिए तो इस कथन में हनुमानजी की प्रचण्ड शक्ति का दिग्दर्शन आप पाएँगे। हनुमानजी में इतनी शक्ति कहाँ से आई? यह महारानी अंजना और महाराज पवन की बारह वर्ष की अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना का प्रताप था। उनके ब्रह्मचर्यपालन ने संसार को एक ऐसा उपहार, ऐसा वरदान दिया, जो न केवल अपने समय में ही अद्वितीय था, वरन् आज तक भी वह अद्वितीय समझा जाता है और शक्ति की साधना के लिए उसकी पूजा भी की जाती है।

बहिनो! अगर तुम्हारी हनुमान सरीखा शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न करने की साध है तो अपने पति को कामुक बनाने वाले साज-सिंगार और हाव-भाव त्याग कर स्वयं ब्रह्मचर्य की साधना करो और पति को भी ब्रह्मचर्य पालन करने दो।

ब्रह्मचर्य ही जीवन है

अपूर्ण ब्रह्मचर्य केवल वीर्यरक्षा को कहते हैं। वीर्य वह वस्तु है कि जिसके

सहारे सारा शरीर टिका हुआ है। यह शरीर वीर्य से बना भी है। अतएव आँखें वीर्य हैं। कान वीर्य हैं। नासिका वीर्य है, हाथ पैर वीर्य हैं। सारे शरीर का निर्माण वीर्य से हुआ है, अतएव सारा शरीर वीर्य है। जिस वीर्य से सम्पूर्ण शरीर का निर्माण होता है उसकी शक्ति क्या साधारण कही जा सकती है? किसी ने ठीक ही कहा है:—

मरणं बिन्दुपातेन,जीवन बिन्दुधारणात।

अपूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रथम नियम

अपूर्ण ब्रह्मचर्य के दस नियमों में पहला नियम भावना है। माता-पिता को ऐसी भावना लाना चाहिए कि मेरा पुत्र वीर्यवान् और जगत् का कल्याण करने वाला बने। इस प्रकार की भावना से बहुत लाभ होता है। आप लोगों को—जो यहाँ बैठे हैं—अलग-अलग तरह के स्वप्न आते होंगे। इसका कारण क्या है? कारण यही है कि सब की भावना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि जैसी भावना होती है, वैसा स्वप्न आता है। इसी प्रकार संतान के विषय में माता-पिता की भावना जैसी होती है, वैसी ही संतान बन जाती है। जिस प्रकार भावना से स्वप्न का निर्माण होता है, इसी प्रकार भावना से संतान के विचारों और कार्य्यों का निर्माण होता है। नीच विचार करने से खराब स्वप्न आता है और यही बात संतान के विषय में भी समझनी चाहिए। संतान के विषय में तुम जैसी भावना लाओगे, आगे चलकर संतान वैसी ही बन जायगी। अतएव संतान के लिए और अपने लिए ब्रह्मचर्य की भावना निरन्तर लानी चाहिए।

दूसरा नियम

ब्रह्मचर्य का दूसरा नियम भोजन-सम्बन्धी विवेक है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि जिस खानपान में आनन्द आता है, वही भोजन है, पर यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। ब्रह्मचारी के भोजन में और अब्रह्मचारी के भोजन में बड़ा अन्तर होता है। गीता में रजोगुणी, तमोगुणी, और सतोगुणी का भोजन अलग-अलग बताया है। पर आज के लोग जिह्वा के वशवर्ती बनकर भोजन के गुलाम हो रहे हैं। यदि तुम अपनी जीभ पर भी अंकुश नहीं रख सकते तो तुम आगे किस प्रकार बढ़ सकोगे? विद्याभ्यास और शास्त्र-श्रवण का फल यही है कि बुरे कामों में प्रवृत्ति न की जाय। पर आजकल खान-पान के सम्बन्ध में बड़ी भयंकर भूलें हो रही हैं और हालत ऐसी जान पड़ती है मानो विद्याभ्यास का फल खान-पान का भान भूल जाना ही हो।

वीर्यनाश के कारण

वीर्य-नाश का एक कारण एक ही कमरे में, एक ही बिछौने पर स्त्री-पुरुष

का शयन करना भी है। एक ही कमरे में और एक शय्या पर सोने से वीर्य स्थिर नहीं रह सकता। शास्त्र में जहाँ स्त्री और पुरुष के सोने का वर्णन मिलता है वहाँ ऐसा ही वर्णन मिलता है कि स्त्री और पुरुष अलग-अलग शयनागार में सोते थे। पर आज इस विषय में नियम का पालन होता नज़र नहीं आता।

निष्क्रिय बैठे रहना भी वीर्यनाश का एक कारण है। जो लोग अपने शरीर और मन को किसी सत्कार्य में संलग्न नहीं रखते उन लोगों का वीर्य भी स्थिर नही रह सकता। यदि शरीर और मन को निष्क्रिय न रक्खा जाय तो वीर्य को हानि नहीं पहुँचती।

रात्रि में देर तक जागरण करना, सूर्योदय के बाद भी सोते रहना, और अश्लील साहित्य का पढ़ना, यह सब भी वीर्यनाश के कारण हैं। अश्लील चित्र देखने से और अश्लील पुस्तकें पढ़ने से भी वीर्य स्थिर नहीं रहता। आज जहाँ-तहाँ अश्लील पुस्तकें पढ़ने और अश्लील चित्र देखने का प्रचार हो गया है। आजकल लोग महापुरुषों और महासतियों के जीवन-चरित्र पढ़ने के बदले अश्लीलतापूर्ण पुस्तकें पढ़ने के शौकीन हो गये हैं। उन्हें यह विचार ही नहीं आता कि ऐसा करने से जीवन में कितने विकार आ घुसे हैं। कहावत है कि—'जैसा वाँचन वैसा विचार।' इस कहावत के अनुसार अश्लील पुस्तकों के पठन से लोगों के विचार भी अश्लील बनते जा रहे हैं।

नाटक-सिनेमा देखना भी वीर्य-नाश का कारण है। आजकल नाटक—सिनेमा की धूम मची हुई है। जहाँ देखो वहाँ गरीब से लेकर अमीर तक—सबको नाटक-सिनेमाओं में फँसाने का प्रयत्न किया जा रहा है। और इस प्रकार सिनेमा वीर्यनाश के साधन बन रहे हैं।

सिनेमा और ग्रामोफोन

आजकल के सिनेमा तो नैतिकता से इतने पतित और निर्लज्जतापूर्ण होते सुने जाते हैं कि कोई भला मानुस अपने बाल-बच्चों के साथ उन्हें देख नहीं सकता। सिनेमाओं के कारण आज लाखों नवयुवक आचरणहीन बन रहे हैं। इन सिनेमाओं की बदौलत भारतीय नारी अपनी महत्ता का विस्मरण कर भारतीय सभ्यता के मूल में कुठाराघात कर रही है। यह अत्यन्त खेद की बात है। इसी प्रकार ग्रामोफोन को भी आनन्द का साधन समझा जाता है पर उसके द्वारा संस्कारों में कितनी बुराइयाँ घुस रही हैं, इस ओर कितने लोगों का ध्यान जाता है?

ब्रह्मचर्य-साधन

ब्रह्मचर्य पालने वालों को अथवा जो ब्रह्मचर्य पालना चाहते हैं उन्हें विलास-पूर्ण वस्त्रों से, आभूषणों से तथा आहार से सदैव बचते रहना चाहिए। मस्तिष्क

में कुविचारों का अंकुर उत्पन्न करने वाले साहित्य को हाथ भी नहीं लगाना चाहिए। जो पुस्तकें धर्म, देश-भक्ति की भावना जागृत करने वाली और चारित्र को सुधारने वाली होती हैं उनमें सरकार राजनीति की गंध सूंघती है और उन्हें जब्त कर लेती है। पर जो पुस्तकें ऐसा गंदा और घासलेटी साहित्य बढ़ाती हैं, प्रजा का सर्वनाश कर रही हैं, उनकी ओर से वह सर्वथा उदासीन रहती है। यह कैसी भाग्यविडम्बना है।

वीर्य की महिमा

स्वप्न दोष में भी वीर्य का नाश होता है। कुछ लोग कहा करते हैं कि वीर्य-रक्षा से स्वप्नदोष होता है पर यह कथन भ्रमपूर्ण है। इस भ्रामक विचार का परित्याग करके, स्वप्नदोष के असली कारण का पता लगाना चाहिए। फिर उस कारण से बचकर दोष-निवारण का प्रयत्न करना चाहिए। जब तुम सो रहे होओ तब तुम्हारी जेब में से अगर कोई रत्न निकाल कर ले जाने लगे और उस समय तुम जाग उठो तो आँखों देखते क्या रत्न ले जाने दोगे? नहीं, तो फिर स्वप्नदोष के कारण जान-बूझ कर वीर्य को नष्ट होने देना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है?

ब्रह्मचर्य और रसनानिग्रह

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए, साथ ही स्वास्थ्य की रक्षा के लिए जिह्वा पर अंकुश रखने की बहुत आवश्यकता है। जिह्वा पर अंकुश न रखने से अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं। इससे विपरीत जो मनुष्य अपनी जीभ पर काबू रखता है उसे प्रायः वैद्यों और डाक्टरों के द्वार पर भटकने की आवश्यकता नहीं रहती।

अनेक लोग ऐसे हैं जिनके लिए जीवन की अपेक्षा भोजन अधिक महत्त्व की वस्तु है। वह जीने के लिए नहीं खाते पर खाने के लिए जीते हैं। भले ही कोई सीधी तरह इस बात को स्वीकार न करे मगर उसके भोजनव्यवहार को देखने से यह सत्य साफ़ तौर से प्रकट हुए बिना नहीं रहेगा। यही कारण है कि अधिकांश लोग जीवन के शुभ-अशुभ की कसौटी पर भोजन की परख नहीं करते। वह जिह्वा को कसौटी बनाकर भोजन की अच्छाई-बुराई की जाँच करते हैं। जो जीवन की दृष्टि से भोजन करता है वह स्वास्थ्यनाशक और जीवन को भ्रष्ट करने वाला भोजन कैसे कर सकता है? कुशल मनुष्य अज्ञात व्यक्ति को सहसा अपने घर में स्थान नहीं देता। तब जिस भोजन के गुण-दोष का पता न हो उसे पेट में स्थान देना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है? जो ऐसे भोजन को पेट में ठूँस लेता है, उसके पेट को भोजन-पिटारे के सिवा और क्या कहा जा सकता है?

एक विद्वान् का कथन है कि दुनिया में जितने आदमी खाने-पीने से मरते हैं उतने खाने-पीने के अभाव में नहीं मरते। लोग पहले तो ठूँस-ठूँस कर खाते हैं,

फिर डाक्टर की शरण लेते हैं। आज जो आदमी जितनी अधिक चीज़ें अपने भोजन में समाविष्ट करता है वह उतना ही बड़ा आदमी गिना जाता है; मगर शास्त्र का आदेश यह है कि जो जितना महान् त्यागी है वह उतना ही महान् पुरुष है। शास्त्र में आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बारह करोड़ स्वर्ण मोहरों का और चालीस हजार गायों का धनी होने पर भी उसने अपने खाने-पीने के लिए कुछ गिनती की चीज़ों की ही मर्यादा कर ली थी। इस प्रकार खान-पान के विषय में जो जितना संयम रखता है वह उतना ही महान् है। जिह्वासंयम से स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। नागरिकों को जितना और जैसा भोजन मिलता है, उतना और वैसा किसानों को नहीं। फिर भी अगर दोनों की कुश्ती हो तो किसान ही विजयी होगा। यह कौन नहीं जानता कि सभ्य और बड़े कहलाने वाले लोगों की अपेक्षा किसान अधिक स्वस्थ और सबल होता है। इसका एक कारण सादा और सात्विक भोजन है।

इस प्रकार अधिक भोजन करने से स्वास्थ्य सुधरने के बदले बिगड़ता है। विकृत भोजन करने से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है और चरित्र को भी। इसी कारण विकृत (विगय) भोजन करने का शास्त्र में निषेध किया गया है।

ब्रह्मचर्य का भोजन के साथ घनिष्ठ संबंध है। भोगी का भोजन और योगी का भोजन एक-सा नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य की साधना करने वालों को ऐसा और इतना ही भोजन करना चाहिए जिससे शरीर की रक्षा हो सके और जो ब्रह्मचर्य में बाधक न होकर साधक हो। अधिक गरिष्ठ, तेज़ मसालेदार और परिमाण से अधिक भोजन सर्वथा हानिकारक है।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में लोगों की भ्रान्त धारणा

विषय-भोग की कामना का नियंत्रण नहीं हो सकता-यह कामना अजेय है, इस प्रकार की दुर्भावना पुरुष-समाज में एक बार पैठ पायी, तो भयंकर अनर्थ होंगे और उन अनर्थों की परंपरा का सामना करना सहज नहीं होगा।

यद्यपि आजकल भी अनेक लोग हैं, जिनकी यह भ्रान्त धारणा हो गई है कि मनुष्य कामभोग की वासना पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता। संभवतः वे लोग मनुष्य को काम-वासना का कीड़ा समझते हैं। पर प्राचीन आर्य-ऋषियों का अनुभव इस धारणा का विरोध करता है। कोई व्यक्तिविशेष ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ रहे यह एक बात है और यह कहना कि ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करना संभव नहीं है, दूसरी बात है। किसी व्यक्ति की असमर्थता के आधार पर किसी व्यापक सिद्धान्त का निर्माण कर बैठना, सचाई के साथ अन्याय करता है। इस प्रकार असमर्थता की ओट में विषयभोगों का प्रचार करना सर्वथा अनुचित है।

आज भी संसार में ऐसे व्यक्तियों का मिलना असंभव नहीं है जो बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जन-सेवा कर रहे हैं। फिर भीष्म और भगवान् नेमिनाथ पवित्र ब्रह्मचारियों का उच्च आदर्श जिन्हें मार्ग-प्रदर्शन कर रहा हो, उन भारतवासियों के हृदय में न जाने यह भूत कैसे घुस गया है कि-विषय-वासना पर काबू रखना शक्य नहीं है। साधु हुए विना ब्रह्मचर्य का पालन हो ही नहीं सकता और गृहस्थ-जीवन में ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान एकदम अशक्यानुष्ठान है!' वास्तव में यह धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण है। मनोवल दृढ़ होने पर पूर्ण या नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है। यही नहीं वरन् विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थ-जीवन में भी ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य पालने से किसी भी प्रकार की हानि की संभावना नहीं है। यही नही किन्तु अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। कहा भी है:—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

कुछ महानुभावों ने एक नये सिद्धान्त का आविष्कार किया है। उनकी अनोखी सी समझ यह है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने से शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं। पर न तो आज तक यह सुना गया है कि ब्रह्मचर्य-पालन से किसी को किसी रोग का शिकार होना पड़ा है और न ऐसा कोई उदाहरण ही देखा गया है। हाँ, ठीक इससे उल्टे जो लोग विषयी होते हैं वे ही रोगों द्वारा सताये जाते हैं। यह बात तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है। अतएव अपने हृदय से इस भ्रान्ति को निकाल फैंको कि ब्रह्मचर्य से रोग पैदा होते हैं। ब्रह्मचर्य जीवन है। उससे शक्ति का विकास होता है। जहाँ शक्ति है वहाँ रोगों का आक्रमण नहीं होता। अशक्त और दुर्वल पुरुष ही रोगों द्वारा सताये जाते हैं।

खेद है कि लोगों के मन में यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि विषय-भोग की इच्छा का दमन करना अशक्य है। परन्तु जैसे नैपोलियन ने असम्भव शब्द को कोश में से निकाल डालने को कहा था। उसी प्रकार तुम अपने हृदय में से काम-भोग की इच्छा का दमन करने की असम्भवता को निकाल वाहर करो। ऐसा करने से तुम्हारा मनोवल सुदृढ़ बनेगा और तब विषय-भोग की कामना पर विजय प्राप्त करना तनिक भी कठिन न होगा।

विवाह

विवाह तो तुम्हारा हुआ, पर देखना यह चाहिए कि तुम विवाह करके चतुर्भुज बने हो या चतुष्पद? विवाह करके अगर बुरे काम में पड़ गये तो समझो कि चतुष्पद बने हो। अगर विवाह को भी तुमने धर्मसाधना का निमित्त बना लिया है तो निस्संदेह तुम चतुर्भुज—जो कि ईश्वर का रूप माना जाता है, बने हो।

इस बात के लिए सतत यत्न करना चाहिए कि मनुष्य चतुष्पद न बनकर चतुर्भुज-ईश्वर रूप बने और अन्ततः उसमें एवं ईश्वर में किंचित् भी भेद न रह सके।

स्त्री और पुरुष के स्वभाव में जहाँ समता नहीं होती वहाँ शांतिपूर्वक जीवन-व्यवहार नहीं चल सकता। विवाह का उत्तरदायित्व अगर माता-पिता अपना समझते हों तो प्रतिकूल स्वभाव वाले पुत्र-पुत्री का विवाह उन्हें नहीं करना चाहिए। लोभ के वश होकर अपनी संतान का विक्रय करके, उनका जीवन दुःखमय बनाना माता-पिता के लिए घोर कलंक की बात है।

× × + ×

विवाह में जहाँ धन की प्रधानता होगी वहाँ अनमेल विवाह हों, यह स्वाभाविक है। अनमेल विवाह करके दाम्पत्य जीवन में सुख-शांति की आशा करना ऐसा ही है, जैसे नीम बोकर आम के फल की आशा करना। ऐसे जीवन में प्रेम कहां? प्रेम को तो वहाँ पहले ही से आग लगा दी जाती है।

पुरुष मनचाहा व्यवहार करें, स्त्रियों पर अत्याचार करें, चाहे जितनी वार विवाह करने का अधिकार भोगें, यह सब विवाह-प्रथा से विपरीत प्रवृत्तियाँ हैं। ऐसे कामों से विवाह की पवित्र प्रथा कलुषित हो गई है। विवाह का आदर्श भी कलुषित होगया है। विवाह का वास्तविक आदर्श स्थापित करने के लिए पुरुषों को संयम-शील होना चाहिए।

+ + + +

प्राचीन काल में; विवाह के संबंध में कन्या की भी सलाह ली जाती थी और अपने लिए वर खोजने की उसे स्वतंत्रता प्राप्त थी। माता-पिता इस उद्देश्य से स्वयंवर की रचना करते थे। अगर कन्या ब्रह्मचर्य पालन करना चाहती थी तो भी उसे अनुमति दी जाती थी। भगवान् ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कन्याएँ विवाह के योग्य हुईं। भगवान् उनके विवाह-संबंध का विचार करने लगे। दोनों कन्याओं ने भगवान् का विचार जाना तो कहा—'पिता जी, आप हमारी चिन्ता न कीजिए। आपकी पुत्री मिटकर दूसरे की पत्नी बनना हम से न हो सकेगा। अन्ततः दोनों कन्याएँ आजीवन ब्रह्मचारणी रहीं।

हां, विवाह न करके अनीति की राह पर चलना बुरा है पर ब्रह्मचर्य पालन करना बुरा नहीं है। ब्रह्मचारिणी रह कर कुमारिकाएँ जनसमाज की अधिक से अधिक और अच्छी से अच्छी सेवा कर सकती हैं।

बलात् ब्रह्मचर्य और बलात् विवाह--दोनों बातें अनुचित हैं। दोनों स्वेच्छा और स्वसामर्थ्य पर निर्भर होनी चाहिए।

+ + + +

आजकल धन एवं आभूषणों के साथ विवाह किया जाता है। भारत के प्राचीन इतिहास को देखो तो पता चलेगा कि सीता, द्रौपदी का स्वयम्वर हुआ था। उन्होंने अपने लिए आप ही वर पसंद किया था। भगवान् नेमिनाथ तीन सौ वर्ष की उम्र तक कुमार रहे। क्या उन्हें कन्या नहीं मिलती थी? पर उनकी स्वीकृति के बिना विवाह कैसे हो सकता था? इसी कारण उनका विवाह नहीं हुआ? आजकल विवाह के संबंध में कौन अपनी संतान की सलाह लेता है?

पाणिग्रहण का प्रधान उद्देश्य

आपने पत्नी का पाणिग्रहण धर्मपालन के लिए किया है। इसी प्रकार स्त्री ने भी आपका। जो नर या नारी इस उद्देश्य को भूलकर खान-पान और भोग-विलास में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं वे धर्म के पति-पत्नी नहीं वरन् पाप के पति-पत्नी हैं।

दाम्पत्य

आज राग के वश होकर पति-पत्नी न जाने कैसी-कैसी अनीति का पोषण कर रहे हैं; पर प्राचीन साहित्य देखने से स्पष्ट विदित होता है कि उस समय पति-पत्नी अलग-अलग कमरों में सोते थे—एक ही जगह नहीं सोते थे। पर आज की स्थिति कितनी दयनीय है! आज अलग-अलग कमरों में सोना तो दूर रहा, अलग-अलग बिस्तर पर भी बहुत कम पति-पत्नी सोते होंगे! इस कारण विषय-वासना को कितना वेग मिलता है, यह संक्षेप में नहीं बताया जा सकता। अग्नि पर घी डालने से वह बिना पिघले नहीं रहता, एक ही शय्या पर शयन करने से अनेक प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। वह बुराइयाँ इतनी घातक होती हैं कि उनसे न केवल धार्मिक जीवन निर्माल्य बनता है, वरन् व्यावहारिक जीवन भी निकम्मा बन जाता है।

× × × ×

लग्न के समय वर-वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं। पति के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करने के पश्चात् सच्ची आर्य महिला अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देती है पर की हुई प्रतिज्ञा से विमुख नहीं होती।

पुरुष भी पत्नी के साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं, परन्तु जो कर्त्तव्य स्त्री का माना जाता है, वही क्या पुरुष का भी समझा जाता है?

जैसे सदाचारिणी स्त्री पर-पुरुष को पिता एवं भाई के समान मानती है. उसी प्रकार सदाचारशील पुरुष वही है जो परस्त्री को माता-बहन की दृष्टि से देखते हैं। 'पर-ती लखि जे धरती निरखें, धनि हैं धनि हैं धनि हैं नर ते।'

× × × ×

पति-पत्नी-संबंध की विडम्बना देखकर किसका हृदय आहत नहीं होगा? जिन्होंने पति और पत्नी बनने का उत्तरदायित्व स्वेच्छा से अपने सिर लिया है वह भी पति--पत्नी के कर्त्तव्य को न समझें, यह कितनी खेद की बात है? पति का कर्त्तव्य पत्नी को स्वादिष्ट भोजन देना, रंग--बिरंगे कपड़े देकर तितली के समान बना देना या मूल्यवान् आभूषणों से गुड़िया के समान सजा देना नहीं है। इसी प्रकार पत्नी का कर्त्तव्य पति को सुस्वादु भोजन बनाकर परोस देने में समाप्त नहीं होता। वासना की पूर्ति का साधन बनना भी पत्नी का कर्त्तव्य नहीं है। ऐसे कार्यों के लिए ही दाम्पत्य संबंध नहीं है। दम्पती का संबंध एक दूसरे को सहायता देकर आत्मकल्याण की साधना में समर्थ बनाने के लिए है। जहाँ इस उद्देश्य की पूर्ति होती है वहीं सात्विक दाम्पत्य संबंध समझा जा सकता है।

विधवाओं का कर्त्तव्य

विधवा बहिनों से मेरा यही कहना है कि अब परमेश्वर से नाता जोड़ो। धर्म को अपना साथी बनाओ। संयम से जीवन व्यतीत करो। संसार के राग-रंगों को और आभूषणों को अपने धर्मपालन में विघ्नकारी समझकर उनका त्याग करो। इसी में आपकी प्रतिष्ठा है। आप त्यागशीला देवियाँ हैं। आपको गृहस्थी के ऐसे प्रपंचों से दूर रहना चाहिए, जिनसे आपके धर्म-पालन में बाधा पहुँचती है।

बाल-विवाह

विवाह शक्ति प्राप्त करने के लिए किया जाता है। शक्ति के लिए मङ्गल वाद्य बजवाये जाते हैं। शक्ति के लिए ज्योतिषी से ग्रहादिक का सुयोग पूछा जाता है। शक्ति के लिए सुहागिनों का आशीष लिया जाता है। परन्तु जहाँ अशक्ति के लिए यह सब काम किये जाते हों वहाँ के लोगों से क्या कहा जाय? जो अशक्ति के स्वागत-सत्कार के लिए यह सब समारोह करता हो उस मूर्ख को किस पदवी से अलंकृत करना चाहिए?

बाल-विवाह करना अशक्ति का स्वागत करना ही है। इससे शक्ति का नाश होता है। अतएव चाहे कोई जैन श्रावक हो, वैष्णव गृहस्थ हो अथवा और कोई हो, सब का कर्त्तव्य है कि अपनी संतानों के हित के लिए—संतान की रक्षा करने के लिए इस घातक प्रथा को त्याग दें। इसका मूलोच्छेदन करके सन्तान का और संतान के द्वारा समाज एवं राष्ट्र का मङ्गलसाधन करें।

आप मङ्गल के लिये बाजे बजवाते हैं, मङ्गल के लिए सुहागिनें आशीष देती हैं, मङ्गल के लिए ज्योतिर्विद से शुभ मुहूर्त निकलवाते हैं, पर यह स्मरण रखिए कि यह सब मङ्गल जब अमङ्गल के लिए किये जाते हैं तब ये किसी काम में नहीं

आते। इन सब मङ्गलों से बाल-विवाह के द्वारा होने वाला अमङ्गल दूर नहीं हो सकता। छोटी-कच्ची उम्र में बालक-बालिका का विवाह करना अमङ्गल है। ऐसा विवाह भविष्य में हाहाकार मचाने वाला है। ऐसा विवाह त्राहि-त्राहि की आवाज़ से आकाश को गुञ्जाने वाला है। ऐसा विवाह देश में दुःख का दावानल दहकाने वाला है। इस प्रकार के विवाह से देश की जीवनी शक्ति का ह्रास हो रहा है। वह शारीरिक क्षमता की न्यूनता उत्पन्न कर रहा है। विविध प्रकार की आधि-व्याधियों को जन्म दे रहा है। अतएव अब सावधान हो जाओ। अगर संसार की भलाई करने योग्य उदारता आपके दिल में नहीं आई हो तो कम से कम अपनी सन्तान का अनिष्ट मत करो। उसके भविष्य को घोर अन्धकार से आवृत मत बनाओ। जिसे तुमने जीवन दिया है, उसी के जीवन का सत्यानाश मत करो। अपनी सन्तान की रक्षा करो।

यह बालक दुनियाँ के रक्षक बनने वाले हैं, इन पर दाम्पत्य का पहाड़ मत पटको। बेचारे पिस जाएँगे।

बालक निसर्ग का सुन्दरतम उपहार है। इस उपहार को लापरवाही से मत रौंदो।

मित्रो! किसी रथ में दो छोटे-छोटे बछड़ों को जोत दिया जाय और उस रथ पर १०-१२ स्थूलकाय आदमी बैठ जाएँ तो जोतने वाले को आप दयावान् कहेंगे या निर्दय?

'निर्दय!'

तब छोटे-छोटे बच्चों को गृहस्थी-रूपी गाड़ी में जोतकर उनपर संसार का बोझ लादने वालों को आप निर्दय न कहेंगे?

भारतीय शास्त्र छोटी उम्र में बालकों के विवाह करने का निषेध करता है। बालक की उम्र बीस वर्ष और बालिका की उम्र सोलह वर्ष निर्धारित की गई है। इतने समय तक बालक-बालिका संज्ञा रहती है। अगर आप लोगों को यह बहुत कठिन जान पड़े तो सोलह वर्ष से पहले बालक और तेरह वर्ष से पहले बालिका का विवाह कदापि न होना चाहिए। जिस राज्य में योग्य बालक-बालिका का विवाह होता है उसी राज्य के राजा और मन्त्री प्रशंसा के योग्य हैं। जहां प्रजा इसके विपरीत आचरण करती हो वहाँ के वीर राजा और प्रजावत्सल मन्त्री का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपने राज्य की जड़ को खोखला बनाने वाले आचरणों पर तीव्र प्रतिबन्ध लगा दें।

बाल-विवाह की भयानक प्रथा का अगर जनता स्वयमेव त्याग नहीं करती तब उसका एक ही उपाय रह जाता है और वह यह कि राज्य अपनी सत्ता से कानून का निर्माण करे और दुराग्रहशील व्यक्तियों के दुराग्रह को छुड़ावे। मनुष्य

की आयु का ह्रास करने में बाल-विवाह भी एक प्रधान कारण है। अमेरिका, जर्मनी और जापान आदि देशों में १२५ वर्ष की आयु के हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त पुरुष मिल सकते हैं, वहां भारतवर्ष की औसत आयु पच्चीस वर्ष की भी नहीं है। भारतवर्ष का यह कैसा अभाग्य है!

देश की इस दुर्दशा में भी भारत के साठ-साठ वर्ष के बूढ़े विवाह करने के लिए तैयार हो जाते हैं। बूढ़ों की इस वासना ने देश को उजाड़ डाला है। आज विधवाओं की संख्या कितनी बढ़ गई और बढ़ती जाती है, यह किसे नहीं मालूम? आप थोकड़ों पर थोकड़े गिन लेते हो पर कभी इन विधवाओं की भी गिनती आपने की है? कभी आपने यह चिन्ता की है कि इन विधवा बहिनों का निर्वाह किस प्रकार होता है?

सौन्दर्यविषयक भ्रान्त धारणा

लोगों ने केवल पुद्गलों में सौन्दर्य की कल्पना कर रक्खी है। और धारणा यह बन गई है कि सुन्दरता केवल तेल, साबुन, उज्ज्वल वस्त्रों एवं अलंकारों में है। परंतु यह धारणा भ्रांत है। तेल, साबुन और गहने-कपड़े कुरूपता के आवरण हैं कुरूपता को छिपाने के लिए इन सब चीजों का उपयोग किया है। और अपने आपको सुन्दर प्रकट करने की चेष्टा की जाती है। जो स्वयं लाल है उस पर लाल रंग चढ़ाने की क्या आवश्यकता है? जो स्वयं सुन्दर है उस पर अलंकारों का बोझ लादने की क्या जरूरत है? शास्त्रविरुद्ध आहार-विहार करके और जिह्वा-लोलुपता के वशीभूत बन कर लोग पहले तो अपने स्वास्थ्य का सत्यानाश करते हैं, वीर्य-रक्षा करके शरीर को तेजस्वी बनाने का खयाल नहीं करते और जब शरीर दुर्बल तथा चेहरा निष्प्रभ बन जाता है तो उसके आच्छादन के लिए तेल-साबुन आदि का प्रयोग करते हैं। परन्तु इस प्रकार के आचरण से वास्तविक सौन्दर्य की वृद्धि नहीं हो सकती।

जिसके चेहरे पर ब्रह्मचर्य का तेज अठखेलियाँ करता है उसे पाउडर लगाने की आवश्यकता नहीं होती। जिसके शरीर के अंग-प्रत्यंग से आत्म-तेज फूट पड़ता हो उसे अलंकारों की अपेक्षा नहीं रहती। सच पूछो तो सुन्दरता-वर्धन के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले ऊपरी पदार्थ आन्तरिक तेज की दरिद्रता को सूचित करते हैं और सौन्दर्य-विषयक सम्यग्ज्ञान के अभाव के परिचायक हैं।

मर्यादित ब्रह्मचर्य

वीर्य का अपमान न करने से मेरा आशय यह नहीं है कि आप विवाह ही न करें। मैं गृहस्थधर्म का निषेध नहीं करता। गृहस्थ को अपनी पत्नी के साथ मर्यादा के अनुसार रहना चाहिए। वीर्य का अपमान करने का अर्थ है-गृहस्थ-धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करके पर-स्त्री के मोह में पड़ना, वेश्यागामी होना

अथवा अप्राकृतिक कुचेष्टाएँ करके वीर्य का नाश करना। पितामह भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य पाला था। आप उनका अनुकरण करके जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालें तो खुशी की बात है। अगर आप से यह नहीं हो सकता तो विधिपूर्वक लग्न कर सकने की मनाई नहीं है। पर विवाहिता पत्नी के साथ भी संतानोत्पत्ति के सिवाय ऋतुदान के अतिरिक्त वीर्य का नाश नहीं करना चाहिए। स्त्रियों को भी यह चाहिए कि वे अपने मोहक हाव-भाव से पति को विलासी बनाने का प्रयत्न न करें। जो स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा के सिवाय केवल विलास के लिए अपने पति को विलास में फँसाती है वह स्त्री नहीं पिशाचिनी है। वह अपने पति के जीवन को चूसने वाली है।

आप परस्त्री-सेवन का त्याग करें, यह किसी पर ऐहसान नहीं है। यह तो अपने आप के लिए लाभदायक है। कल्याणकारक है। भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य है कि आज भारत की सन्तान को वीर्य-रक्षा का महत्त्व समझाना पड़ता है।

ऐ भीष्म की सन्तानो! भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करके दुनिया के कानों में ब्रह्मचर्य का पावन मन्त्र फूँका था। आज उन्हीं की सन्तान कहलाते हुए उन्हीं के मन्त्र को क्यों भूल रहे हो?

परस्त्रीगमन

परस्त्रीगामी पुरुष नीच से नीच हैं और देश में पाप का खप्पर भरने वालों में अगुवा हैं। ऐसे दुष्ट लोग अपना ही नाश नहीं करते वरन् दूसरों का भी सत्यानाश करते हैं। इन हत्यारों की रोमाञ्च-कारिणी करतूतों को सुनकर हृदय थर्रा उठता है। यही रोग के कीटाणु हैं।

स्वस्त्री-संतोष

जो लोग परस्त्रीगमन का त्याग कर देते हैं, वह भी स्वस्त्री के विषय में अपने आपको एकदम निरंकुश समझते हैं। जरा मेरी बात पर ध्यान दीजिए। जो पराये घर की जूठन त्याग कर अपने घर मर्यादा से अधिक भोजन करता है, उसे क्या अजीर्ण नहीं होता? क्या वह अजीर्ण से इसीलिए बच जायगा कि उसने घर का ही भोजन किया है? नहीं भाइयो, चाहे पराये घर की जूठन आपने त्याग दी है, फिर भी यदि अपने घर पर खाने की मर्यादा नहीं रक्खोगे तो शरीर का शीघ्र नष्ट हो जाना नहीं रुकेगा।

श्रावक के लिए परस्त्री त्याग जैसे आवश्यक है उसी प्रकार स्वस्त्रीसंतोष भी आवश्यक है।

× × × ×

विवाह के प्रकरण में, शास्त्र में 'सरिसवय' पाठ आता है। इसका तात्पर्य है सदृशवय वाले, अर्थात् वर-वधू की उम्र विवाह के समय योग्य होनी चाहिए।

विवाह के पश्चात् जो स्त्री 'धम्मसहाया' अर्थात् गृहस्थधर्म के पालन में सहायक मानी जाती थी, आज वही धर्मपत्नी, भोग की सामग्री समझी जाती है! पुरुषों के लिए यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि वे तीसों दिन स्त्री के साथ नीच आचरण करते हैं। जो वस्तु संजीवनी जड़ी से भी अधिक मूल्यवान् है उसे इस प्रकार नष्ट करना मूर्खता की पराकाष्ठा है। क्या अमृत से पैर धोने वाला बुद्धिमान् कहला सकता है? जिस चीज से तीर्थंकरों के पावन शरीर का निर्माण हुआ, जिससे बड़े-बड़े राजा महाराजा बने, उस चीज़ को पानी की तरह वृथा बहा देना मूर्खता के अतिरिक्त क्या है?

वीर्य-रक्षा का सुफल

जो वीर्य रूपी राजा को अपने काबू में कर लेता है वह सारे संसार पर अपना दावा रख सकता है। उसके मुख-मण्डल पर विचित्र तेज़ चमकता है। उसके नेत्रों से अद्भुत ज्योति टपकती है। उसमें एक प्रकार की अनोखी क्षमता होती है। वह प्रसन्न नीरोग और प्रमोदमय जीवन का धनी होता है। उसके इस धन के सामने चाँदी-सोने के टुकड़े किसी गिनती में नहीं हैं।

वीर्य की रक्षा

जिस वीर्य से तीर्थंकर और अवतार माने जाने वाले महापुरुष उत्पन्न होते हैं, उसे अनावश्यक व्यय करना उचित नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले प्रशंसा के पात्र हैं; पर जो अनावश्यक वीर्य नष्ट नहीं करते और नीति के इस अंग का पालन करते हैं वह भी कम प्रशंसा के पात्र नहीं हैं।

दाम्पत्य जीवन की आवश्यकता की पूर्ति के अतिरिक्त जो पुरुष अनावश्यक-असमय में अपना वीर्य नष्ट करता है वह अपने आपको धधकती आग में होमता है।

अपरिग्रह

दुःख का मूल कारण तृष्णा है। चिउंटी से लगाकर चक्रवर्ती पर्यन्त सभी जीव तृष्णा के पीछे-पीछे दौड़ लगा रहे हैं। खेद की बात यह है कि उस दौड़ का कहीं अन्त नहीं है, कहीं विराम नहीं है, तृष्णा की मंजिल कभी तय हो नहीं पाती। उसका तय होना संभव भी नहीं है, क्योंकि लक्ष्य स्थिर नहीं है। पहले निश्चित किये हुये लक्ष्य पर पहुँचने को हुए कि लक्ष्य बदल कर और आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार संसार में दौड़-धूप मची रहती है। मनुष्य पहले विवाह करके सुख की आकांक्षा करता है-विवाह कर लेना उसका लक्ष्य होता है। परन्तु विवाह होते

ही संतान की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। कदाचित् संतान होगई तब भी तृष्णा का अन्त कहाँ? वह और आगे बढ़ती है—संतान के विवाह की इच्छा पैदा करती है। इसके बाद मनुष्य को पौत्र चाहिए, प्रपौत्र चाहिए, और न जाने क्या क्या चाहिए। इस 'चाहिए' के चंगुल में फँस कर मनुष्य बेतहाशा भाग-दौड़ लगा रहा है। कभी किसी क्षण शांति नहीं, संतोष नहीं और निराकुलता नहीं। भला इस दौड़-धूप में सुख कैसे मिल सकता है? यह संसार की व्याकुलता का कारण है। इसी तृष्णा से दुःख शोक और संताप की उत्पत्ति होती है।

ज्ञानी जन तृष्णा के पीछे नहीं दौड़ते। उन्होंने समझ लिया है कि अगर कोई अपनी परछाई पकड़ सकता है तो तृष्णा की पूर्ति कर सकता है। मगर अपनी परछाई के पीछे कोई कितना ही दौड़, वह आगे आगे दौड़ती रहेगी, पकड़ में नहीं आवेगी। इसी प्रकार तृष्णा की पूर्ति के लिये कोई कितना ही उपाय करे मगर वह पूरी नहीं होगी। ज्यों ज्यों परछाई के पीछे दौड़ने का प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों वह आगे बढ़ती जाती है। मगर मनुष्य जब उससे विमुख हो जाता है, तब यह लौटकर उसका पीछा करने लगती है। इस प्रकार परछाई के पीछे दौड़ कर अपनी शक्ति का नाश करना व्यर्थ है और तृष्णा की पूर्ति करने के लिए मुसीबत उठाना भी वृथा है।

ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि मुझे जो कुछ प्राप्त है वह भी मेरा नहीं तो दूसरी वस्तु की आकांक्षा क्यों करूँ? ज्ञानवान् पुरुष अज्ञानियों की तरह चिन्ता में घुल-घुल नहीं मरते। ज्ञानी जानते हैं कि मेरा विवाह हुआ है पर मेरी स्त्री मुझ से भिन्न रही है, मैं इसके नष्ट होने पर चिन्ता नहीं करता और प्राप्त होने पर खुशी भी नहीं मानता। ज्ञान अपने शरीर पर भी शासन कर सकता है।

माया का मालिक और गुलाम

माया का मालिक होना और बात है और गुलाम होना और बात है। माया का गुलाम माया के लिये झूठ बोल सकता है, मगर माया का मालिक ऐसा नहीं करेगा। अगर न्याय नीति के अनुसार माया रहे तो वह उसे रक्खेगा, अगर वह अन्याय के साथ रहना चाहेगी तो उसे निकाल बाहर करेगा। यही बात अन्य सांसारिक सुख-सामग्री के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

मोह-ममता

सांसारिक जड़ पदार्थों का ध्यान करते-करते यह चैतन्य आत्मा भी जड़ सा बन गया है। यद्यपि आत्मा और संसार के जड़ पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन उन जड़ पदार्थों से आत्मा का ऐसा मोहाकर्षण हो गया है कि आत्मा अपने आपको उनसे अभिन्न समझने लगा है। विचार कर देखो कि रुपया क्या है और आत्मा क्या है? रुपया जड़ है। वह कट सकता है, घिस सकता है, नष्ट हो सकता

है और एक के पास से दूसरे के पास जा सकता है। आत्मा चैतन्य है। आत्मा कट नहीं सकता, घिस नहीं सकता और कभी नष्ट नहीं हो सकता। फिर भी लोग सिक्के से प्रेम करते हैं, उसे अपनाते हैं और उसके विना जीवन निस्सार समझते हैं।

आखिर लोग सिक्के को क्यों इतना चाहते हैं? उससे इतना प्रेम क्यों करते हैं? उसके लिये अपना जीवन भी विपद् में क्यों डाल देते हैं? उसके उपार्जन के लिये अधर्म और अन्याय करते भी क्यों नहीं झिझकते? हे रुपैया, तुझ में ऐसा कौनसा बड़ा आकर्षण है? तूने आँख वालों को भी अन्धा कैसे बना दिया है? बड़े-बड़े विद्वान् और विद्यावान् भी तेरे आगे नतमस्तक क्यों हो जाते हैं? तूने जगत् पर क्या जादू चलाया है?

वास्तव में सिक्के के प्रति जनता के मोह का प्रधान कारण है—आत्मा के द्वारा जड़ का ध्यान करना। मोही आत्मा निरन्तर जड़ पदार्थों का ध्यान किया करता है, अतएव वह जड़वत् बन गया है। इसी कारण जड़ को त्यागने में आत्मा अत्यन्त असाता का अनुभव करता है। यह सब जड़ के ध्यान का प्रताप है। जड़ का ध्यान आत्मा में आर्त्ति उत्पन्न करता है। अतएव वह ध्यान आर्त्त-ध्यान बन जाता है।

जड़ के ध्यान से आत्मा जड़वत् बन जाता है तब भी, और समस्त शास्त्र परिग्रह की निन्दा करते हैं फिर भी, जड़ परिग्रह से आत्मा का इतना प्रेम क्यों है? इसका कारण यह है कि आत्मा में अभी आर्त्तध्यान बना है, इसी कारण वह जड़ के प्रति इतना अनुरागी है। लोग समझते हैं—बिना सिक्के के रोटी-कपड़े का काम कैसे चलेगा? इस रोटी-कपड़े के आर्त्तध्यान से बचने के लिये सिक्के की शरण में गये। लेकिन सिक्के की शरण में जाकर भान भूल गये और दूसरे आर्त्त-ध्यान में पड़ गये। यदि रोटी-कपड़े के आर्त्तध्यान से बचने के लिये धर्म-ध्यान की शरण ली जाय—सिक्के से प्रेम न किया जाय, तो आत्मा एक आर्त्त-ध्यान से निकल कर दूसरे आर्त्त-ध्यान में न फँसे।

प्राचीन और आधुनिक श्रीमन्त

पहले के श्रीमान् और आधुनिक श्रीमान् में बहुत अन्तर पड़ गया है। पहले की श्रीमन्ताई कुछ और थी, और आज की श्रीमन्ताई कुछ निराले ही ढंग की है। प्राचीन काल के श्रीमान् अपने घर पर गायें-भैंसें पालते थे, वे स्वयं इनका दूध-घी खाते थे और दूसरों को भी उससे लाभ पहुँचता था। दूसरों को कदाचित् दूध-घी नहीं मिलता तो भी छाछ तो चाहे जिसे मिल ही जाती थी! पर आज के श्रीमानों के घर चाय के प्याले सजे रहते हैं। इस अवस्था में दूसरे लोग उनसे क्या लाभ उठा सकते हैं? चाय के प्याले दूसरों को लाभ नहीं पहुँचाते, न सही, पर वे स्वयं पीने वालों को भी लाभ नहीं पहुँचाते, उल्टे शारीरिक हानि उत्पन्न

करते है। इसका परिणाम होता है, डाक्टर की शरण लेना। आज के श्रीमान् दूसरों की सेवा करना भूल गये हैं। वे लोग बंगले में रहने और मोटरों पर सवार होकर चलने-फिरने में ही अपनी श्रीमन्ताई समझते हैं। गायें भैंसें पालने से मच्छर बढ़ते हैं, अतएव बाजारू दूध खरीद लेने में ही अपना बड़प्पन मानते हैं। पर यह उन्हें नहीं सूझता कि अगर गाय भैंस पालने से ही मच्छर होते हैं तो उनके बंगले में गाय न होने पर भी मच्छर कहाँ से आ पहुँचते हैं। अगर तुम सच्चे श्रीमन्त हो तो अपनी श्रीमन्ताई का दूसरों की सेवा करने में उपयोग करो। यह नहीं हो सकता तो तुम्हारी श्रीमन्ताई घोड़े की पूँछ के समान किस मतलब की है? बड़े-बड़े शानदार बंगले बनाने में, दो-चार कुत्ता पालने में और मोटर खरीद कर उसे चारों ओर फिरा कर लोगों पर धूल उड़ाने से भले ही आज तुम्हें श्रीमन्ताई दीखती हो, पर ज्ञानियों की दृष्टि में वह सच्ची श्रीमन्ताई नहीं है। जो जन-समाज की अधिक से अधिक सेवा करते हैं वे ही सच्चे श्रीमन्त हैं और उनकी सच्ची श्रीमन्ताई जगत् के लिए हितकारक है।

यज्ञ

'इदम् न मम' अर्थात् यह मेरी वस्तु नहीं है, इस भाव से, उस वस्तु पर से ममत्व हटा लेना और उस पर दूसरे का अधिकार कर देना यज्ञ का अर्थ है। जो अपने अधिकार की चीजों पर से अपना स्वत्व त्याग देता है और दूसरे का अधिकार मान लेता है, वही सच्चा यज्ञ करने वाला है।

द्रव्य पर ममत्व न रखना और उसे अपना न समझना, द्रव्य-यज्ञ कहलाता है। ऐसा करने के लिये घर-गिरस्ती त्याग कर साधु बन जाना ही आवश्यक नहीं है। द्रव्य पर अपना अधिकार न समझे, जगत् की वस्तु जगत् के लिये है, यह समझ कर उस द्रव्य का अपने आपको ट्रस्टी मात्र समझे औह सार्वजनिक हित में द्रव्य का उपयोग करे, यह आवश्यक है। इसी को द्रव्ययज्ञ कहते हैं।

जैसे द्रव्य का यज्ञ होता है वैसे ही दान का भी यज्ञ होता है। दान देकर उससे मान न कमाना, निष्काम भाव से दान देना दान-यज्ञ है। जो लोग दान द्वारा मान की कामना करते हैं, वे दान नहीं करते वरन् दान का सौदा करते है—किसी वस्तु को देकर उसके बदले में दूसरी वस्तु की अभिलाषा करते हैं। ऐसे लोगों को कीर्ति या मान कितना मिलता है, यह तो आप भी जानते हैं, पर उन्हें दान का वास्तविक फल नहीं मिलता। दान के असली फल को प्राप्त करने के लिये, फल की आकांक्षा का त्याग करना चाहिये। यही सच्चा दान है और यही प्रशस्त दान है।

यज्ञ क्या?

यज्ञ वास्तव में क्या है? यज्ञ किसे कहना चाहिये? कोई-कोई अग्नि में घी होमने को यज्ञ कहते हैं। किसी ने पशुओं की बलि चढ़ाना यज्ञ समझ लिया है।

और कोई तो नरबलि को भी यज्ञ मानते हैं। तात्पर्य यह है कि लोगों ने यज्ञ का मूलभूत वास्तविक अर्थ बदल कर उसे हिंसा में परिणत कर दिया है। इसी कारण यज्ञ के नाम पर घोर हत्या हुई है और आज भी अनेक देवी- देवताओं को उद्देश्य करके लाखों पशुओं का निर्दयता के साथ वध किया जाता है। प्राचीन साहित्य से ज्ञात होता है कि यज्ञ से धरती पर रक्त की नदियाँ वहाई गई थीं।

लोकमान्य तिलक ने यज्ञ की घोर प्रथा का वर्णन करते हुए लिखा है कि चम्बल नदी का वास्तविक नाम चर्मवती है। इस नदी का चर्मवती नाम पड़ने का कारण भी उन्होंने वताया है—एक राजा ने यज्ञ के लिये इतने पशुओं की वलि चढ़ाई कि इस नदी के किनारे उन पशुओं के चर्म का ढेर लग गया और उससे रक्त की जो धारा बही उससे नदी का पानी रक्त-वर्ण हो गया। तभी से इस नदी का नाम चर्मवती पड़ा, जिसे आज कल की बोली में चम्बल कहते हैं।

इस प्रकार यज्ञ का अर्थ हिंसा में बदल गया, परन्तु उसका वास्तविक अर्थ हिंसापरक नहीं है। यज्ञ का वास्तविक अर्थ समझाने का बीड़ा जैन शास्त्रों ने तो उठाया ही है, परन्तु गीता आदिक वैदिक सम्प्रदाय के अनेक ग्रंथ भी हत्या वाले यज्ञ को यज्ञ नहीं कहते। गीता में कहा है—

> द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा, योगयज्ञास्तथाऽपरे।
> स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, यतयः संशितव्रताः॥
>
> —अ० ४, श्लो० २८.

अर्थात्—द्रव्य, तप, योग, स्वाध्याय, और ज्ञान से यज्ञ होता है। परोपकार के लिये द्रव्य आदि को लगाना, सात्विक रूप से दान में लगे रहना द्रव्य-यज्ञ है। सात्विक तप करना तपयज्ञ है। शास्त्रों का पाठन-पठन स्वाध्याय-यज्ञ है और आध्यात्मिक विचार में मग्न रहना ज्ञान-यज्ञ है।*

इन पाँच प्रकार के गीता-वर्णित यज्ञों में हत्या को कहाँ अवकाश है? यहाँ तो विशुद्ध आचार का ही प्रतिपादन किया गया है।

उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में हरिकेशी मुनि ने भी ब्राह्मणों को यज्ञ का अर्थ समझाया है।

> कहं चरे भिक्खु वय जयामो,
> पावाइं कम्माइं पुणोल्लयामो।
> अक्खाहि णे संजय ! जक्खपूइया,
> कहं सुजट्ठं कुसला वयंति॥

जब मुनिराज हरिकेशी ने ब्राह्मणों के हिंसात्मक यज्ञ को पापरूप बताया

*देखो गीता का व्यवहारदर्शन। पृ० २०१.

तब उन्होंने मुनि से पूछा—हे भिक्षु ! हम लोगों को यज्ञ करना चाहिये या नहीं ? अगर यज्ञ करें तो कौनसा यज्ञ करें जिससे पाप का नाश हो सके ? हे संयत, कृपा करके हमें समझाइये कि ज्ञानी पुरुषों ने किसे सुयज्ञ बताया है ?

ब्राह्मणों के प्रश्न का उत्तर देते हुए मुनि ने कहा है—

छज्जीवकाये असमारभन्ता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थीओ माणमायं, एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता॥
सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकाया सुचइत्तदेहा, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं॥

अर्थात्—षट् जीव-निकाय का आरम्भ न करने वाले, मृषावाद और अदत्तादान का सेवन न करने वाले, परिग्रह, स्त्री, मान, माया आदि का त्याग करने वाले, पाँच प्रकार के संवर से युक्त, जीवन के प्रति निष्काम, शरीर की ममता से रहित पुरुष श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं; अर्थात् उल्लिखित गुणों को अपने जीवन में व्यवहार्य बनाना ही श्रेष्ठ यज्ञ है।

इसके बाद ब्राह्मणों के एक और प्रश्न के उत्तर में मुनि ने कहा है—

तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसंती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

अर्थात्—तप अग्नि है। जीव अग्नि का स्थान है—होमकुण्ड है। योग चढुवा—सामग्री लेकर होमने का उपकरण है। शरीर ईंधन है। संयम और योग शांतिपाठ है। हम इस प्रकार का अग्नि-होत्र करते हैं। यही अग्निहोत्र ऋषियों द्वारा प्रशंसित है।

स्वत्व का त्याग

तुम समझते हो हमने तिजोरी में धन को कैद कर लिया है, पर धन समझता है कि हमने इतने बड़े धनी को अपना पहरेदार मुकर्रर कर लिया है।

तुम अपनी कृपणता के कारण धन का व्यय नहीं कर सकते पर धन तुम्हारे प्राणों का भी व्यय कर सकता है।

तुम धन को चाहे जितना प्रेम करो, प्राणों से भी अधिक उसकी रक्षा करो, उसके लिए भले ही जान दे दो, लेकिन धन अन्त में तुम्हारा नहीं रहेगा—नहीं रहेगा। वह दूसरों का बन जायगा।

तुम धन का त्याग न करोगे तो धन तुम्हारा त्याग कर देगा। यह सत्य इतना स्पष्ट और ध्रुव है कि इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

ऐसी स्थिति में विवेकवान् होते हुए भी इतने पामर क्यों बने जा रहे हो ? तुम्हीं त्याग की पहल क्यों नहीं करते ? क्यों सत्व के धागे को तोड़कर फैंक नहीं देते ?

धन के संरक्षक मात्र बनो

मित्रो ! अगर आप लोग भी अपनी सम्पत्ति से पाप न करके, उसके ट्रस्टी-भर बने रहो तो क्या उस सम्पत्ति को कुछ दाग लग जायगा ? हाँ, उस अवस्था में अपने भोग-विलास के लिए उसका दुरुपयोग न कर सकोगे। लेकिन बहुत लोगों की तो ट्रस्टी बनने की भावना ही नहीं होती। क्या श्रावक की जिन्दगी ऐसी होती है कि वह धन के कीचड़ में फँसा रहे और उससे आत्मा को मलिन बना डाले ? उसे परोपकार में न लगावे ? क्या श्रावक को धर्म पर विश्वास नहीं है ? बैंक पर विश्वास करके उसमें लाखों रुपया जमा करा देने वालों को धर्म रूपी बैंक पर क्या विश्वास नहीं है ?

मैं अपका धन नहीं चाहता। मेरे पास जो कुछ था उसका त्याग कर देना मैंने अपना सौभाग्य समझा है। उससे मुझे शांति और सुख मिला है। ऐसा करके मैंने निराकुलता का आनन्द अनुभव किया है। तुम्हें जो त्याग का उपदेश करता हूँ तो इसी लिए कि तुम भी सुखशांति का इसी उपाय से लाभ कर सकोगे। सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य यही हैं कि वह अपनी सम्पत्ति परोपकार के लिए समझे, और आप उससे अलहदा रहता हुआ अपने को उसका ट्रस्टी अनुभव करे।

मित्रो ! आप लोगों के पास जो द्रव्य है उसे अगर परोपकार में, सार्वजनिक हित में और दीन-दुखियों को साता पहुँचाने में न लगाया तो याद रखना, इसका ब्याज चुकाना भी तुम्हें कठिन हो जायगा। ऐसे द्रव्य के स्वामी बन कर आप फूले न समाते होंगे कि चलो हमारा द्रव्य बढ़ गया है, मगर शास्त्र कहता है और अनुभव उसका समर्थन करता है कि द्रव्य के साथ क्लेश बढ़ा है। जब आप बैंक से ऋण रूप में रुपया लेते हैं तो उसे चुकाने की कितनी चिन्ता रहती है ? उतनी ही चिन्ता पुण्य रूपी बैंक से प्राप्त द्रव्य को चुकाने की क्यों नहीं करते ? समझ रक्खो, यह सम्पत्ति तुम्हारी नहीं है। इसे परोपकार के अर्थ अर्पण करदो। याद रखो कि यह जोखिम दूसरे की मेरे पास धरोहर है। अगर इसे अपने पास रख छोड़ूँगा तो यह तो यहीं रह जायगी, लेकिन इसका बदला चुकाना मेरे लिए बहुत भारी पड़ जायगा।

साम्यवाद

संसार के सभी मनुष्य समान होकर रहें, इस प्रकार का साम्यवाद कभी समस्त संसार में फैल सकता है: लेकिन उस समानता में जब तक बंधुता न होगी तब तक उसकी नींव बालू पर खड़ी हुई ही समझना चाहिए। वायु के एक झकोरे से साम्यवाद की ही नींव हिल जायगी और उसके आधार पर निर्मित की हुई इमारत धूल में मिल जायगी। साम्य के सिद्धान्त को अगर सजीव बनाया जा सकता है तो केवल उसमें बन्धुता की भावना का सम्मिश्रण करके ही। यही नहीं बन्धुता हीन

साम्यवाद विनाश का कारण बन जाता है। इसके लिए रूस का उदाहरण मौजूद है। रूस ने अपने साम्यवाद के लिए हजारों मनुष्यों की हत्या की है। जो भी देश रूस की तरह कोरा साम्यवाद अपनाने जायगा और बन्धुता को उससे पहले ही नहीं अपना लेगा, वह अशान्ति का बीजारोपण ही करेगा।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज ने एक बार कहा था— 'ऐ धनिको! सावधान रहो। अपने धन में से गरीबों को हिस्सा देकर यदि उन्हें शान्त न करोगे, उनका आदर न करोगे, उनकी सेवा न करोगे तो साम्यवाद फैले बिना न रहेगा। सामाजिक स्थिति इतनी विषम हो जायगी कि गरीब लोग धनवानों के गले काटेंगे। उस समय हाय-हाय मच जायगी।'

संचय-वृत्ति

कनक और कामिनी की लोलुपता ने संसार को नरक बना डाला है। आजकल मुद्रा-देवी ने—सोने, चाँदी और तांबे आदि के सिक्कों ने कितनी अशांति फैला रक्खी है! तुम लोग रात-दिन पैसे के लिए दौड़धूप करते रहते हो मगर पैसे का संग्रह करके भी सुख की सांस नहीं ले सकते। पैसे के लिए आपस में लड़ाई-झगड़े होते हैं, हजारों मनुष्यों का खून बहाया जाता है। इसका बाहरी कारण कुछ भी बताया जाय, पर असली कारण तो द्रव्य के संग्रह की भावना ही है। इतिहास स्पष्ट बतला रहा है कि जब से मानव-समाज में संग्रह-परायणता जागी है तब से संसार की दयनीय दशा आरंभ हुई है।

मैं अपने बचपन की बात करता हूँ। उस समय लोग अन्न आदि कोई वस्तु देकर शाक-भाजी या और कोई आवश्यक वस्तु खरीदते थे। उस समय वस्तुओं का विनिमय होता था—वह वास्तविक विनिमय था। सिक्का तो तब भी था, पर आज की भाँति उसका अधिक प्रचलन नहीं था। इस कारण अधिक अशांति भी नहीं थी। सिक्के की वृद्धि के साथ अशांति की वृद्धि हुई है। सिक्का-संग्रह करने की मनोवृत्ति ने अशांति का पोषण किया है।

धन

धन व्यावहारिक कार्यों का एक साधन है। धन से व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। पर आज तो लोगों ने इस साधन को साध्य समझ लिया है और वे इसी की प्राप्ति में सारा जीवन व्यय कर रहे हैं। तुम इस बात का विचार करो कि धन तुम्हारे लिए है या तुम धन के लिए हो? कहने को तुम कह दोगे कि हम धन के लिए नहीं है। धन हमारे लिए है। पर क्या व्यवहार में भी यही बात है?

सर्वप्रथम तुम अपने को समझो। विचार करो कि तुम कौन हो? तत्पश्चात् इस बात को सोचो कि धन किसके लिए है? तुम रक्त, मांस या हड्डी नहीं हो। यह सब चीज़ें शरीर हैं और शरीर के साथ ही भस्म होने वाली हैं। अतएव धन रक्त-मांस आदि के लिए नहीं, आत्मा के लिए है। इस बात को भलीभाँति समझ कर आत्मा को धन का गुलाम मत बनाओ। जो सत्य को समझ लेगा वह धन

का दास नहीं बनेगा, स्वामी बनेगा। वह धन को साध्य नहीं, साधन मात्र समझेगा। वह धन के लिए जीवन वर्वाद नहीं करेगा किन्तु जीवन के उत्कर्षसाधन में धन को भी निमित्त बनाएगा।

अगर तुम्हें प्रतीति है कि धन तुम्हारे लिए है, धन के लिए तुम नहीं हो तो, धन के लिए कभी पाप तो नहीं करते ?

× × + ×

असत्य भाषण करना, विश्वासघात करना, पिता-पुत्र के बीच क्लेश होना, यह सब किसलिए है ? इन सब बुराइयों का मूल कौन है ? धन के ही लिए संसार में घोर कलेश हो रहे हैं, पापाचरण हो रहे हैं, इससे स्पष्ट मालूम होता है कि लोगों ने धन को साधन नहीं, साध्य मान लिया है और वह आत्मा से भी अधिक आत्मीय वन गया है। लोगों के इस भ्रम के कारण ही संसार में दुःख व्याप रहा है। धन को साधन मानकर लोकहित के कार्यों में व्यय करना, धन का सदुपयोग है।

धन के सद्व्यय के लिए हृदय में उदारता चाहिए। जहाँ हृदय में उदारता नहीं वहाँ धन का सद्व्यय नहीं हो सकता। धन के प्रति हृदय में ममता रहती है, उसका त्याग करने में ही आत्मा का कल्याण है।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते ।

प्रमादी पुरुष धन से त्राण-रक्षण नहीं पा सकता। धन किसी को मौत से नहीं बचा सकता। वह दुखों का सर्जन करता है।

धन को साधन मानकर, उसके प्रति निर्मम बनना, उसे आत्मा को न ग्रसने देना, इतनी महत्त्व की बात है कि उसके बिना जीवन का अभ्युदय सिद्ध नहीं हो सकता।

तृष्णा

'यह मेरा है, वह तेरा है, मुझे यह करना है, यह नहीं करना है' इस प्रकार की घटना संसार में अनवरत रूप से दिनरात चलती रहती है। जीवन छोटा है, काम बहुत हैं। ऐसी अवस्था में कोई भी व्यक्ति अपना काम पूरा नहीं कर सकता। किसी व्यक्ति ने अपनी इच्छानुसार संसार के सब काम कर लिए हों और वह कृतकृत्य हो गया हो, ऐसा आज तक कभी हुआ नहीं, हो सकता भी नहीं। मैंने अमुक कार्य किया है और अमुक काम करूँगा, इस प्रकार की लालसा जीव के साथ सदैव चिपटी रहती है। यह लालसा कभी पूरी हो नहीं सकती। कंठ के आभूषण तैयार हुए न हुए कि हाथ के आभूषणों की चर्चा शुरु होती है। हाथ के आभूषण तैयार होते ही पैर के आभूषणों की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार लालसा का कहीं अन्त नहीं। चांदी के बन गये तो सोने के आभूषणों की कमी रहती है। यदि भाग्यवश सोने के भी बन गए तो हीरा-माणिक के आभूषणों की इच्छा बलवती हो उठती है। इस प्रकार तृष्णा आकाश के समान असीम है।

सम्पत्ति

सम्पत्ति की प्राप्ति पुण्य से होती है; पर यह आवश्यक नहीं कि वह पुण्य को ही उत्पन्न करे। सम्पत्ति एक साधन है और अन्यान्य साधनों की भाँति उसके सदुपयोग और दुरुपयोग पर ही उसकी पुण्यप्रदता या पापजनकता निर्भर है। सम्पत्तिमान् चाहे तो सम्पत्ति से अक्षय पुण्य उपार्जन कर सकता है, और घोर-तर पाप भी संचय कर सकता है।

वह सम्पत्ति सफल है जो संसार के कल्याण का साधन बनती है। जो सम्पत्ति व्यक्तिगत विलास का कारण है, जिसका व्यय व्यक्ति अपने आमोद-प्रमोद के लिए ही करता है वह पाप-सम्पत्ति है। ऐसी सम्पत्ति मनुष्य में अभिमान आदि अनेक अवगुण उत्पन्न करके उसे नरक का अतिथि बनाती है।

अपरिग्रह

गेंद दड़ा के खेल में गेंद एक होती है, खेलने वाले बहुत होते हैं। जिसके पास गेंद जाती है वह दूसरे के पास उसे धकेलता है। ऐसा करने से ही खेल का रंग जमता है। एक ही व्यक्ति गेंद को पकड़ कर बैठ जाय तो खेल का मज़ा नहीं आ सकता। इसके सिवाय क्या दूसरे खिलाड़ी उसे ऐसा करने देंगे? नहीं! वह उससे बलपूर्वक गेंद छीन लेंगे।

इसी प्रकार सम्पत्ति के संबंध में समझना चाहिए। तुम्हारे पास जो सम्पत्ति है वह तुम कहाँ से लाये हो? वह आकाश से तुम्हारे आंगन में नहीं टपक पड़ी है। तुमने उसे यहीं से एकत्र किया है, फिर भी दुखी और निर्धनों की तरफ तुम्हारा ध्यान कभी जाता है? अगर नहीं जाता तो यही कहना चाहिए कि तुम अकेले ही गेंद पकड़ रखना चाहते हो। सम्पत्ति की जो शक्ति तुम्हें प्राप्त हुई है वह अगर दूसरों को देते रहोगे तो वह उसी प्रकार लौट आवेगी जैसे गेंद लौट आती है। अगर तुम उसे पकड़ कर, दबाकर बैठ जाओगे तो उसी प्रकार छीन ली जायगी जैसे दूसरे खिलाड़ियों द्वारा गेंद छीन ली जाती है। रूस में क्या हुआ था? लोगों ने सम्पत्ति अपनी मान ली थी और उसे दबाकर बैठ गये थे। गरीबों की तरफ उनका ध्यान नहीं था। जब लोग बहुत अधिक दुखी हो गये तो विद्रोह की चिन-गारियाँ प्रज्वलित हो उठीं। अन्त में पूंजीवाद का अन्त हुआ। इस इतिहास से शिक्षा ग्रहण करो। धर्म का भी यही आदेश है कि पूंजी को पकड़ कर मत बैठे रहो। ऐसा करने से इस लोक में भी दुख मिलेगा और परलोक में भी।

इच्छा का परिमाण

सब लोग अपनी इच्छाओं को परिमित कर लें-इच्छापरिमाण व्रत धारण कर लें तो संसार की बहुत कुछ अशांति मिट सकती है। संसार की मौजूदा अशांति का प्रधान कारण इस व्रत का अभाव है। इस व्रत के अभाव के कारण

ही साम्यवाद की उत्पत्ति हुई है। भारतवर्ष में भी साम्यवाद की लहर आ रही है। धनिक पूंजी दबाकर बैठ जाएँ और गरीब दुख पाएँ, ऐसी स्थिति में धनिकों के प्रति गरीबों को द्वेष होना स्वाभाविक है। गरीबों के दिल में उत्पन्न होने वाली इस भावना को कैसे रोका जा सकता है कि–'हम दाने दाने को तरस रहे हैं और यह पूंजी दबाकर बैठे हैं। इन्हें ऐसा अधिकार किसने दिया है? यह लोग ठूंस-ठूंस कर खाएँ और न खा सकें तो फैंक दें, और हम भूख के मारे मरें! कोई हमारी खोज-खबर न भी ले। इसी प्रकार तुम्हारे पास अनावश्यक वस्त्र पड़े-पेटियों में सड़ रहे हैं और दूसरे ठंड के मारे ठिठुर रहे हैं: तुम उन्हें देना नहीं चाहते। तब उनके दिल में क्या भावना उत्पन्न होगी? विद्वेष भावना से प्रेरित हो कर ऐसे लोग लूटमार करने को तैयार हो जाएँ और समाज की दोषपूर्ण रचना में आमूलचूल परिवर्तन करने की माँग करें तो क्या आश्चर्य की बात है?

कदाचित् तुम सोचते होगे कि यह असहाय निर्धन लोग तुम्हारा क्या बिगाड़ सकते हैं! पर यह तुम्हारी भूल है। कंगालों की संख्या इतनी अधिक है कि उस की उपेक्षा करना बुद्धिमत्ता नहीं। इसके अतिरिक्त तुम्हारे पास जो धन है वह गरीबों से ही आया है—गरीबों के पसीने की ही वह कमाई है। अतएव तुम्हें सोचना चाहिए कि तुम्हारी शांति, दीन दुखियों की शांति पर ही निर्भर है। मत सोचो कि अधिकांश जनता का हक़ छीन कर कोई चिरकाल तक गुलछर्रे उड़ा सकता है।

वस्तु किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करती। जो भोजन तुम्हारी भूख मिटाता है वही कंगालों की भी भूख मिटाता है। पर भेदभाव तुम ही क्यों करते हो? पहले ज़माने में तो ऐसे लोग हो गये हैं जो स्वयं भूखे रह कर दूसरों को भरपेट भोजन खिलाते थे। तुम उन जैसे नहीं बन सकते तो इतना तो कर ही सकते हो कि जो चीज़ तुम्हारे पास फ़ालतू है, अतिरिक्त है, उसे दबा कर मत बैठो। तृष्णा के वश होकर दूसरों के दुख की उपेक्षा मत करो। तृष्णा की पूर्त्ति न कोई कर सका है, न हो ही सकती है। अतएव इच्छा का निरोध करके तृष्णा पर विजय प्राप्त करो।

पदार्थों का उपयोग

तुम संसार के पदार्थों पर कितनी ही ममता क्यों न रक्खो, पर संसार के पदार्थ अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकते। अगर तुम संसार के पदार्थों को नहीं छोड़ना चाहोगे तो संसार के पदार्थ अन्त में तुम्हें छोड़ कर चल देंगे। जब यह स्थिति है तो तुम उन प्राप्त पदार्थों का सदुपयोग क्यों नहीं कर लेते? सदुपयोग करने से तुम्हें आनन्द-लाभ होगा। ऐसा अवसर बार-बार नहीं मिलता। अतएव जो सामग्री तुम्हें प्राप्त है उसका सदुपयोग करके आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त बनाओ।

—

७

धर्म-चतुष्टय

दान ।

शील ।

तप ।

भावना ।

हे दानी ! तू दान के बदले कीर्ति और प्रतिष्ठा खरीदने का विचार मत कर। अगर तेरे अन्तःकरण में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ है तो समझ ले कि तेरा दान, दान नहीं है; व्यापार है। इसलिए गुप्त रूप से दान दे। दाहिने हाथ से दिये दान का पता बायें हाथ को भी मत लगने दे।

दूसरों का सहायक बनने के लिए दान दिया जाता है, उनकी इज्जत-आबरू की चिता पर अपनी प्रतिष्ठा का स्तंभ खड़ा करने के लिए नहीं। अपने आपको दानी के रूप में प्रसिद्ध करने के लिए जो दान दिया जाता है वह दान नहीं है। आजकल के दानी इस तथ्य की ओर कितना ध्यान देते हैं ? सात्विक दान में किसी प्रकार की स्पृहा को स्थान नहीं होता।

किसी वस्तु पर से अपनी सत्ता उठा लेने को ही दान कहते हैं। मान, प्रतिष्ठा या यश के लिए जो त्याग किया जाता है, वह दान नहीं है। वह तो एक प्रकार का व्यापार है, जिसमें कुछ धन आदि दिया जाता है और उससे मान-सम्मान आदि खरीदा जाता है। ऐसे दान से दान का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। 'अहंभाव' या ममता' का त्याग करना दान-का उद्देश्य है। अगर कोई दान अहं-कार की वृद्धि के लिए होता है, तो उससे दान का प्रयोजन किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? दान से कीर्त्ति भले ही मिले, पर कीर्त्ति की कामना करके दान नहीं देना चाहिए। किसान धान्य की प्राप्ति के लिए खेती करता है पर उसे भूसा तो मिल ही जाता है। अगर कोई किसान भूसे के लिए ही खेती करे तो उसे बुद्धिमान कौन समझेगा ? इसी प्रकार निष्काम भाव से दान देने से कीर्त्ति आदि भूसे के समान आनुषंगिक फल मिल ही जाते हैं, पर इन्हीं फलों की प्राप्ति के लिए दान देना विवेकशीलता नहीं है। इसी प्रकार दानीय व्यक्ति को लघु और अपने आपको गौरवशाली समझ कर भी दान नहीं देना चाहिए।

यह कभी न भूलो कि दान देकर तुम दानीय व्यक्ति का जितना उपकार करते हो, उससे कहीं अधिक दानीय-व्यक्ति तुम्हारा—दाता का—उपकार करता है। वह तुम्हें दान धर्म के पालन का सुअवसर देता है; तुम्हारे ममत्व को घटाने में या हटाने में निमित्त बनता है। अतएव वह तुमसे उपकृत है, तो तुम भी उससे कम उपकृत नहीं हो। अगर दान देते समय अहंकार का भाव आ गया तो तुम्हारा दान अपवित्र हो जायगा।

आत्मबल की प्राप्ति के लिए इसी प्रकार के निष्काम और निरहंकार त्याग की आवश्यकता है। उसके बदले न स्वर्ग-सुख की अभिलाषा करो, न दानीय पुरुष की सेवाओं की आकांक्षा करो, न यश-कीर्त्ति खरीदो और न उसे अपने अहंकार की खुराक बनाओ।

तुम्हारे पास धन नहीं है, तो चिन्ता करने की क्या बात है ? धन से बढ़-कर विद्या, बुद्धि, बल आदि अनेक वस्तुएँ हैं। तुम उनका दान करो। धन-दान

से विद्यादान और बलदान क्या कम प्रशस्त है? नहीं। तुम्हारे पास जो कुछ अपना कहने को है, बस, उसी का उत्सर्ग कर दो।

× × × ×

गरीब अगर अपनी एक रोटी में से एक छोटा सा टुकड़ा भी दान कर देता है तो उसका दान धन्य है। श्रीमान् के लाखों करोड़ों रुपयों की अपेक्षा उस गरीब की रोटी के एक टुकड़े का दान अधिक महत्वशाली है। हे गरीब! तू क्यों चिन्ता करता है? जिसके शरीर पर अधिक कीचड़ लगा होगा, वह उतना ही अधिक उसे छुड़ाने का प्रयत्न करेगा। तू भाग्यशाली है कि तेरे पैर में कीचड़ अधिक नहीं लगा है। तू दूसरों से ईर्षा क्यों करता है? उन्हें तुझ से ईर्षा करनी चाहिए। पर देख, सावधान रहना, अपने पैरों में कीचड़ लगाने की भावना भी तेरे दिल में न होनी चाहिए। जिस दिन, जिस क्षण, यह दुर्भावना पैदा होगी, उसी दिन, उसी क्षण, तेरा सौभाग्य पलट जायगा। तेरे शरीर पर अगर थोड़ा सा भी मैल है तो तू उसे छुड़ाता चल। उसे थोड़ा समझ कर उसका संग्रह न किये रह!

कोई दीन-दुखिया जब किसी के द्वार पर भीख माँगने आता है तब प्रायः उसे डाँट कर कहा जाता है—'चल हट यहाँ से! यहाँ क्या तेरे बाप की धरोहर धरी है?' ऐसा कहने वाले लोगों से पवन भी कदाचित् यही कह दे तो कैसी बीते?

आध्यात्मिक विषय को जानने वाला पुरुष, पवन आदि पदार्थों के उपकार के भार से विनम्र होकर यही कहेगा कि मै किस पर गर्व करूँ? गर्व करने योग्य मेरे पास क्या है? जीवन ही मेरा दूसरों की बदौलत टिका हुआ है तो गर्व की सामग्री मेरे पास क्या रह जाती है? वह जीवन को श्वास का ही खेल समझता है।

सम्यग्दृष्टि होते हुए भी कृपणता का त्याग न करना आश्चर्य की बात है। जो पुरुष पुद्गलों का स्वरूप जानता है, जो पुण्य और पाप का विवेक कर सकता है, वह कृपण नहीं रह सकता। जो व्यक्ति पाप-कार्य का तो त्याग करता नहीं, उल्टा पुण्य-कार्य का त्याग कर बैठता है, वह कैसा सम्यग्दृष्टि है! अतएव जाति को हानि पहुँचाने वाले खान-पान में और काम-काज में अपनी शक्ति का दुर्व्यय न करते हुए, भगवान् के मार्ग की प्रभावना करने वाले कार्यों में अपनी शक्ति लगाओ। जिसमें जितनी शक्ति हो, वह सब परमात्मा के मार्ग को दिपाने में लगानी चाहिए। शारीरिक, मानसिक, वाचिक या आर्थिक, किसी भी प्रकार की शक्ति क्यों न हो, भगवान् का धर्म फैलाने मे लगे तो ही शक्ति की सार्थकता है। जगत् को व्यक्ति का यही सर्वोत्तम दान है।

दान देने से धन में कमी हो जाती है, यह भ्रमपूर्ण विचार है। इस भ्रम के कारण दान देने में लोगों की रुचि प्राय कम होती है। साधुमार्गी समाज जैसी कृपणता तो शायद ही किसी समाज में होगी। यह समाज दान-धर्म को भूल-सा

गया है। इसका एक मात्र कारण धन में कमी आ जाने का भय है। परन्तु यह धारणा गलत है।

शील

जब कोई मनुष्य किसी मन्त्र को सीखता है तो उसे बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। वह उसी ओर ध्यान लगाये रहता है। शील महामन्त्र है। उसे सीखने के लिए आप सावधान रहें। कोई आकाशगामिनी विद्या सीखता है; कोई तांबे को सोना बनाने की विद्या सीखता है, कोई विषैले जानवरों के विष को उतारने का मन्त्र सीखता है, पर शील का महामन्त्र इनसे कम नहीं है। जिस मंत्र से साधारण व्यक्ति समस्त विश्व का महान् पुरुष बन सकता है वह मंत्र क्या छोटा हो सकता है? इस मंत्र के प्रभाव से अर्हन्त भी बना जा सकता है, फिर वह छोटा कैसे हो सकता है? शीलमंत्र के प्रभाव से मनुष्य आकाशगामी ही नहीं, वरन् लोकाकाश के अग्रभाग पर सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है। शीलमंत्र के प्रभाव से तांबा, सोना ही नहीं बनता वरन् नरक का जीव भी सिद्ध, बुद्ध, निर्विकार परमात्मा बन जाता है। शीलमंत्र के माहात्म्य से जानवरों का ही विष दूर नहीं होता, बल्कि समस्त विकार रूपी विष नष्ट हो जाता है। ऐसा है शील महामंत्र का प्रभाव।

जो भद्र पुरुष शीलमंत्र को भलीभाँति सीख लेगा, जो इस मंत्र की आराधना करेगा उसे अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा। उसके हृदय में अपूर्व जागृति आ जायगी।

शील का स्वरूप

बुरे कामों से निवृत्त होना और अच्छे कामों में प्रवृत्त होना शील कहलाता है। यह शील का सामान्य स्वरूप है। इससे यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न हो जाता है कि बुरा क्या है और अच्छा क्या है? संसार के समस्त शास्त्रों का सार अच्छे और बुरे की व्याख्या में ही आ जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पाँच बातें बुरी हैं (१) हिंसा (२) झूठ (३) चोरी (४) व्यभिचार (५) शराब पीना। इन पाँचों बातों से निवृत्त होना चाहिए। पाँच अच्छी बातें हैं—(१) दया (२) सत्य (३) प्रामाणिकता अर्थात् अन्याय से किसी वस्तु को प्राप्त करने की अपेक्षा न रखना (४) परस्त्री को माता-बहिन के समान समझना और (५) नशे की किसी वस्तु का उपयोग न करना।

परस्त्री से परहेज़ करना स्वस्त्री-सेवन की मर्यादा करना ही शील है, ऐसा जो अर्थ समझते हैं वे शील का एकांगी अर्थ समझते हैं। जिसके हाथ में एक ही उंगली हो वह मुट्ठी नहीं बांध सकता। इसी प्रकार जो पूर्वोक्त पाँच बातों का त्याग और उनसे विपरीत का ग्रहण नहीं करता, वह शीलजन्य परम कल्याण का पात्र नहीं बन सकता।

मान लीजिए एक आदमी पत्र लिखने बैठा। उसे स्वरों का ज्ञान तो है पर व्यंजन उसे नहीं आते। या व्यंजन वह जानता है, स्वर नहीं जानता। ऐसी स्थिति में वह पूरी चिट्ठी लिख सकेगा? जैसे सिर्फ स्वरों से या सिर्फ व्यंजनों से पूरी भाषा नहीं बनती, उसी प्रकार केवल परस्त्री त्याग और स्वस्त्री-संतोष से शील की परिपूर्ण परिभाषा नहीं होती। शील की पूर्णता के लिए उक्त पाँचों की निवृत्ति और पाँचों में प्रवृत्ति होना आवश्यक है।

महिलाएँ और शील

बहिनो! स्मरण रखना तुम जगत् की जननी हो, संसार की शक्ति हो। तुम माता हो। जगत् तुम्हारे सद्गुण रूप सौरभ से सुरभित है। तुम्हीं समाज की पवित्रता और उज्ज्वलता कायम रख सकती हो। तुम्हारी पूर्ववर्तिनी महासतियाँ किस से शोभा पाती थीं? शील व्रत से ही। आप सोना पहिनती हैं सो इसे तांबा न बनाना। तुम्हारे शील पर, तुम्हारे कुल-धर्म पर, तुम्हारे जाति-धर्म पर किसी प्रकार का धब्बा न लगने पावे। तुम ऐरों गैरों के चक्कर में न पड़ जाना। मगर यह सब कब होगा? सादगी धारण करने पर। बनाव-सिंगार करना तुम्हारा काम नहीं है। शील के समान दिव्य आभूषण तुम्हारी शोभा बढ़ाने के लिए काफी है। फिर तुम्हें और आभूषणों का लालच रखने की क्या आवश्यकता है? आत्मा की शोभा बढ़ाओ। मन को उज्ज्वल करो। हृदय को पवित्र भावनाओं से अलंकृत करो। इस मांस के पिंड शरीर की सजावट में क्या पड़ा है? शरीर का सिंगार आत्मा को कलंकित करना है। अगर तुम अपना सारा शरीर भी हीरों और पन्नों से मढ़ लोगी, तो भी तुम्हारी कोई पूजा न करेगा। तुम्हारी सच्ची महत्ता और पूजा शील से होगी।

शील-धर्म

शील संसार की उत्तम संपत्ति है। शीलधर्म का अर्थ है—सदाचार का पालन। सदाचार का पालन आत्मबल वाला ही कर सकता है। और आत्मबल वाले में ही सदाचार हो सकता है। शील की महिमा अपरिमित है। उसकी महिमा प्रकट करने वाली अनेक कथाएँ मौजूद हैं। सुदर्शन सेठ के लिए, शील के प्रताप से ही फाँसी का तख्ना सिंहासन बन गया था। सीता के शील के प्रभाव से अग्नि शीतल हो गई थी। प्रभात होते ही सोलह सतियों का स्मरण क्यों किया जाता है? क्यों उनका यश गाया जाता है? शील के कारण ही।

राजा ने सेठ सुदर्शन से बहुतेरा कहा कि तुम रानी का सच्चा सच्चा हाल बताओ। मैं तुम्हारी बात पर अविश्वास नहीं करूँगा। फिर भी सुदर्शन ने राजा को उसकी रानी का हाल नहीं बताया। रानी के द्वारा वह तिरस्कृत ही नहीं हुआ था। वरन् उसकी बदौलत वह शूली पर चढ़ाया जा रहा था। फिर भी सुदर्शन ने रानी

का अनिष्ट नहीं किया। आप शूली पर चढ़ गया, लेकिन शूली. शील के प्रताप से, सिंहासन बन गई।

ऐसी-ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिन में शील धर्म की महिमा का बखान है। कई लोग इन कथाओं को कल्पित कह कर उनकी उपेक्षा करते हैं। पर वास्तव में उन्होंने उनका मर्म नहीं समझा है। आत्मबल के प्रति अनास्था ही इसका प्रधान कारण है।

तप धर्म

शील-धर्म के पश्चात् तप-धर्म है। तप में क्या शक्ति है, सो उनसे पूछो जिन्होंने छह-छह महीने तक निराहार रह कर घोर तपश्चरण किया है और जिनका नाम लेने मात्र से हमारा हृदय निष्पाप एवं निस्ताप बन जाता है! तप में क्या बल है, यह उस इन्द्र से पूछो जो महाभारत के कथनानुसार अर्जुन की तपस्या को देखकर काँप उठा था और अर्जुन को एक दिव्य रथ प्रदान किया था।

कहते हैं, अर्जुन की तपस्या से इन्द्र काँप उठा। उसने मातलि को रथ लेकर अर्जुन के पास भेजा। मातलि अर्जुन के पास रथ समेत पहुँचा और बोला- धनञ्जय! इन्द्र आपके तप से प्रसन्न हैं। आप इस रथ के योग्य हैं; अतएव इसमें आप बैठिए। बहुत लोगों ने संसार के बहुत से काम किए हैं, पर यह रथ किसी को नहीं मिला। मगर तप के प्रताप से आज यह रथ आपको भेंट किया जाता है।

इस कथन में अलंकार-भाषा का प्रयोग है। वस्तुतः यह शरीर ही रथ है। इस रथ में जुतने वाले अश्व इन्द्रियाँ है। तप के प्रभाव से अर्जुन को एक विशिष्ट प्रकार के रथ की प्राप्ति हुई, जिसमें तपोधनी ही बैठ सकते हैं।

चक्रवर्ती भरत महाराज के पास सेना, अस्त्र-शस्त्र, और शरीर के बल की कमी नहीं थी। लेकिन जब युद्ध का समय आता था, तब वे तेला करके युद्ध किया करते थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तेला का बल चक्रवर्ती के समग्र बल से भी अधिक होता है।

तप एक प्रकार की अग्नि है जिसमें समस्त अपवित्रता, सम्पूर्ण कल्मष एवं समग्र अशांति भस्म हो जाती है। तपस्या की अग्नि में तप्त होकर आत्मा सुवर्ण की भाँति तेज से विराजित हो जाती है। अतएव तप-धर्म का महत्त्व अपार है।

तप की महिमा -

जो तप करता है उसकी वाणी पवित्र और प्रिय होती है और जो प्रिय, पथ्य तथा सत्य बोलता है उसी का तप, तप कहलाने योग्य होता है। तपस्वी को

असत्य या अप्रिय भाषण करने का अधिकार नहीं। तपस्वी सत्य और प्रिय भाषा ही बोल सकता है। उसे क्लेशजनक, पीड़ाजनक या भयोत्पादक वाणी नहीं बोलना चाहिए। तपस्वी की वाणी में अमृत का माधुर्य होता है। भयभीत प्राणी उसकी वाणी सुनकर निर्भय बनता है। तपस्वी अपनी जिह्वा पर सदा नियंत्रण रखता है। उसकी वाणी शुद्धि एवं पवित्रता से पूत होती है।

यही नहीं, तपस्वी में वाचिक पवित्रता के साथ मानसिक पवित्रता होती है। अगर मधुर भाषण मन की अपवित्रता का आवरण न बन जाय तो तपस्वी की तपस्या सार्थक हो जाती है। जिस तप से मन शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल बन जाता है वह सच्चा तप है। मन में रजोगुण या तमोगुण हो तो मन निर्मल नहीं रह सकता। जो मन रजोगुण और तमोगुण से अतीत हो जाता है वही निर्मल है। तपस्वी को ऐसी निर्मलता प्राप्त करने के लिए सदा जागृत रहना चाहिए।

तपस्या करना वीरता का काम है। प्रत्येक आदमी तप नहीं कर सकता। तपस्वी अपनी शक्ति का संचय करके तप करे और अहंकार आ जाए तो सारी तपस्या निरर्थक हो जाती है। अतएव तपस्या करके 'इदं न मम' कह कर भगवान् की सेवा में उसे समर्पित कर देना चाहिए।

इसी प्रकार स्वाध्याय आदि को 'इदं न मम' कह कर परमात्मा को अर्पण कर देना ही हितकर है। इससे अभिमान का भाव उदित नहीं होता है। इस प्रकार द्रव्य, तप आदि का यज्ञ करता रहे तब तो ठीक है। यदि इनका अभिमान किया तो आत्मा का अधःपतन हो जाता है।

आहारत्याग-अनशन

कुछ लोग कहते है—'जैनधर्मानुयायी आहार का त्याग करते हैं. यह भी हिंसा का एक प्रकार है। आहार का त्याग करना और मरना दोनों समान हैं। आहार के बिना शरीर टिक नहीं सकता। जब भूख लगती है और भोजन नहीं किया जाता तब शरीर का रक्त-मांस ही भूख कर खाद्य बन जाता है। अतएव आहार का त्याग करना हिंसा है।'

यह विचार भ्रमपूर्ण धारणा का परिणाम है। वास्तविक बात यह है कि जैसे आहार करना शरीररक्षा के लिए आवश्यक है. उसी प्रकार आहार का त्याग करना-उपवास करना भी जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक है। आज अनेक स्वास्थ्य शास्त्री उपवास का महत्त्व समझकर उसे प्राकृतिक चिकित्सा में प्रधान स्थान देते हैं। उपवास करने से शरीर का रक्त-मांस ही भूख की खुराक नहीं बन जाता। उपवास से शरीर कृश अवश्य होता है, परन्तु उस कृशता से शरीर को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती। शरीर की कृशता, शरीर के सामर्थ्य के ह्रास का

प्रमाण नहीं है। वैज्ञानिक पद्धति से दूध को सुखाकर उसका एक पदार्थ बना लिया जाता है और फिर उस पदार्थ का पानी में मिश्रण करने से फिर दूध तैयार हो जाता है, फिर भी दूध की शक्ति नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार उपवास करने से शरीर सूख जाता है, फिर भी शारीरिक शक्ति नष्ट नहीं होती। इसके विपरीत यदि उपवास विधि-पूर्वक किया जाय और उपवास की समाप्ति के पश्चात् शीघ्र आहार की वृद्धि न की जाय तो शरीर की कृशता ही दूर न हो जायगी वरन् शरीर के रोग भी समूल नष्ट हो जाएँगे। यह बात केवल कल्पना के सहारे नहीं कही जा रही है। इसका आधार प्रत्यक्ष अनुभव है। इस बात की सचाई में जिसे संदेह हो वह अपने शरीर का वजन करके एक दिन का उपवास कर डाले। उपवास के दूसरे दिन फिर वजन करके देखे तो प्रतीत होगा कि उपवास से शारीरिक शक्ति को तनिक भी हानि नहीं पहुँचती।

उपवास से उत्पन्न होने वाली शारीरिक कृशता में और रोगजन्य कृशता में बहुत अन्तर है। जो लोग उपवास के अभ्यासी नहीं हैं, दवा के अभ्यासी हैं, उन्हें ही यह भीति बनी रहती है कि उपवास से शरीर निर्बल, निस्तेज तथा कृश बन जाता है। वास्तव में उपवास शरीर को स्वस्थ रखने की एक प्राकृतिक अमोल औषध है। एक मास में छह दिन ही अगर उपवास-चिकित्सा का प्रयोग किया जाय तो शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं रह पाएगा और डाक्टर का द्वार भी न खटखटाना पड़ेगा।

अलबत्ता यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि उपवास करने से शारीरिक लाभ होता है फिर भी उपवास की परिपूर्ण सफलता उसमें नहीं है। आत्मा और परमात्मा के मिलन के लिए किया जाने वाला उपवास ही आदर्श उपवास है। उपवास शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'उप-समीपे वसति इति उपवासः अर्थात् आत्मा को परमात्मा के समीप पहुँचाने के लिए आत्मध्यान करना, आत्मचिन्तन करना और इसके लिए आहार का त्याग करके जीवितव्य की आशा का भी त्याग कर देना सच्चा उपवास है। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि उपवास परमात्मा के निकट पहुँचने का एक मार्ग है।

आज के लोग दवा के ऐसे दास बन गए हैं कि दवा के नाम पर अखाद्य और असेव्य वस्तुओं का सेवन करते भी नहीं हिचकते। इस प्रकार की वस्तुओं से बचने के लिए तथा अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए उपवास करना अत्यावश्यक है। उपवास में शारीरिक और आत्मिक विकास की दोनों दृष्टियों का समावेश हो जाता है। तपश्चरण अप्र दवा के सेवने से बचा सकता है और अन्तःकरण को भी निर्मल बना सकता है।

कुछ लोग उपवास को भी खान-पान का साधन बना बैठते हैं। कल उपवास करना है इसलिए आज हलवा, पूड़ी; कलाकन्द आदि गरिष्ठ पदार्थों का

सेवन करके पेट को ठॉस-ठाँस कर भर लेना उपवास की खिल्ली उड़ाना है।

जैनशास्त्र ऐसे उपवास का विधान नहीं करते। यह उपवास नहीं, एक प्रकार की आत्मवंचना है। धारणा और पारणा के दिन अर्थात् उपवास के पहले और पिछले दिन सिर्फ एक बार भोजन करने से 'चतुर्थभक्त' उपवास होता है।

अतएव उपवास के संबंध में किसी प्रकार का भ्रम न रहे और वह विधि-पूर्वक किया जाय, यह आवश्यक है।

अनशन की उपयोगिता

तप जीवन का आवश्यक अंग है। तप के बिना एक श्वास भी सुखपूर्वक नहीं लिया जा सकता। प्रथम तप-अनशन तो इतना व्यापक है कि उसकी महत्ता आज सर्वविदित है। अमेरिका के डाक्टर अनशन को समस्त औषधों में सर्वोत्तम मानते हैं। उपवास के द्वारा रोगों की चिकित्सा करने की पद्धति भी प्रचलित हो गई है। जिन भयंकर रोगों को मिटाने में डाक्टर समर्थ नहीं थे, वह रोग भी अनशन के द्वारा मिटाये गये हैं। उपवास के संबंध में मेरा स्वानुभव है और मैं कह सकता हूँ कि उससे अनेक रोगों का विनाश हो जाता है। संभव है, जिन्होंने उपवास संबंधी अनुभव प्राप्त नहीं किया ऐसे लोग उपवास की यह महत्ता स्वीकार न करें; पर उनके अस्वीकार का कोई मूल्य नहीं है। अनुभवी इस सत्य को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते। गीता में कहा है—

> विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
> रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥

लोकमान्य तिलक विद्वान थे, मगर विद्वत्ता अलग चीज़ है और साधना अलग है। इसी कारण उन्होंने गीता के इस श्लोक का यह अर्थ लिखा है कि उपवास से विषय तो छूट जाते हैं पर विषय की वासना नहीं छूटती अतएव उपवास करना मानो आत्मा का घात करना है। लोकमान्य की इस व्याख्या से, जान पड़ता है कि उपवास के संबंध में उनका आत्मानुभव नहीं रहा होगा। कौन जाने उन्होंने कभी एकादशी का भी उपवास किया था नहीं! इससे विपरीत गांधीजी उपवास के अनुभवी हैं। उन्होंने लगातार इक्कीस-इक्कीस दिन के उपवास किये हैं और आत्मशुद्धि के लिए या अन्य कारण से फुटकल उपवास भी किये हैं। उन्हें उपवास के संबंध में अच्छा अनुभव है। अतएव गांधीजी ने इस श्लोक का अर्थ किया है कि शरीर की बाह्यशुद्धि के लिए उपवास बहुत बढ़िया उपाय है।

जंगली-घोड़े जब पकड़े जाते हैं तब उनके ऊधम का पार नहीं रहता। दो-तीन दिन भूखे रखने पर वही काबू में आ जाते हैं। इसी प्रकार इंद्रिय रूपी घोड़ों को काबू में रखने के लिए उपवास एक समर्थ साधन है। विधवा स्त्री और साधु

ब्रह्मचारी आदि उपवास की सहायता से ही अपने नियमों का पालन करते हैं और संयम में स्थिरता प्राप्त करते हैं

यद्यपि अनशन तप की उपयोगिता संशय का विषय नहीं है, तथापि बलात् अनशन नहीं कराया जा सकता। तुम उपवास करते हो, इसी कारण अगर अपने आश्रित जनों को और पशुओं को आहार-पानी नहीं देते तो हिंसा का पाप लगेगा। भक्त-पान का विच्छेद करना अतिचार है।

अनशन तप

वही तप उत्तम है जिससे मन, वचन, काय की शुद्धि होती है। कोई-कोई तपस्वी क्रोधी अधिक होते हैं, पर जो क्रोध करता है उसमें अभी तप नहीं है, यह कहा जा सकता है। तप में क्रोध को स्थान नहीं हो सकता और जो तप क्रोध से रहित है, वही उत्तम तप है।

तप मात्र आत्मोपकारक हैं। मगर उन सब में अनशन प्रधान है। जैन शास्त्र अनशन तप को महत्वपूर्ण स्थान देता है। महाभारत में भी कहा है—

तपो नानशनात् परम्।

तप आत्मा को पापों से दूर रखता है। जो तप का आचरण करता है वह अहिंसा का पालन करता है, सत्य का अनुसरण करता है, अचौर्य का आचरण करता है, ब्रह्मचर्य की आराधना करता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए मन की वृत्तियों को वश में करना आवश्यक है। मन की वृत्तियाँ अन्य उपायों से कदाचित् वश में न भी हों पर अनशन तप उन्हें वश करने का अमोघ उपाय है।

उपवास

एक बार भारतवर्ष ने उपवास के गुण समस्त संसार को बतलाये थे। आज वही भारतवर्ष दिनों दिन उसके महत्व को भूलता जा रहा है।

जैन साहित्य और वैदिक साहित्य भी मुक्त कंठ से तप की महिमा बखान करता है। उपवास इंद्रियों की रक्षा करने वाला है। धर्म-साधना का सबल साधन है। इंद्रियों के चांचल्य का निग्रह उपवास से ही होता है।

इन्द्रियों को काबू में रखना बहुत कठिन है। महा शत्रु पर अधिकार करना सरल है, पर इन्द्रियों पर अधिकार करना कठिन है। उपवास ही इन्द्रियों पर अधिकार करने का सरल उपाय है।

मनुष्य हमेशा खाता है। सावधानी रखने पर भी कहीं भूल हो जाना अनिवार्य है। प्रकृति भूल का दण्ड देने से कभी नहीं चूकती। किसी और से आप अपने

अपराधों की क्षमा करा सकते हैं पर प्रकृति के दण्ड से आप किसी भी प्रकार नहीं बच सकते। अगर आप प्रकृति के किसी कानून को तोड़ते हैं तो आपको तुरंत उसका दण्ड भोगने के लिए उद्यत रहना होगा। आप दूसरों की आँखों मे धूल झोंक सकते हैं पर प्रकृति के आगे आपकी एक भी नहीं चलेगी। प्रकृति के कानून अटल अचल हैं। उनमें तनिक भी हेरफेर नहीं हो सकता।

ऐसी स्थिति में भोजन में भूल हुई नहीं कि कोई न कोई रोग आ धमकता है! उस रोग के प्रतीकार का सरल और सफल उपाय उपवास ही है। आपने उपवास किया और रोग छूमन्तर हुआ। अगर आपको कोई रोग नहीं है तो भी उपवास करने का अभ्यास लाभदायक ही है।

आप हमेशा भोजन करते हैं। आंतें उस भोजन को पचाती हैं। अतें अविश्रान्त रूप से काम करते-करते थक जाती हैं। अगर बीच में कभी-कभी उन्हें विश्राम मिल जाया करे तो उनमें नवीन शक्ति आ जायगी।

अपने नियम के अनुसार प्रकृति जितने मनुष्यों को उत्पन्न करती है, उनके खाने के लिए भी वह पैदा करती है। पर मनुष्य अपनी धींगाधांगी से, आवश्यकता से अधिक खा जाता है—ठूंस-ठूंस कर पेट भरता है। इस प्रकार अकेले भारतवर्ष ने ६ करोड़ मनुष्यों की खुराक को छीन कर उन्हें भूखे मारने का पाप अपने सिर ले लिया है। भारत में तेतीस करोड़ मनुष्य हैं। इनमें से छह करोड़ को अलग कर सत्ताईस करोड़ मनुष्य महीने में छह उपवास करने लगें तो क्या इन छह करोड़ भूखों को भोजन नहीं मिल सकता?

इस प्रकार उपवास भूखों की भूख मिटाने वाला, रोगियों के रोग दूर करने वाला और ईश्वरोपासक को ईश्वर से मिलाने वाला है। उपवास का अर्थ ही है—उप अर्थात् ईश्वर के समीप, वास करना।

भावना

प्रत्येक कार्य होने के तीन प्रकार हैं—पहले विचार होता है, फिर उच्चार होता है, तब अन्त में आचार होता है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के लिए पहले पहल आत्मा में विचार या संकल्प होता है। संकल्प में यदि बल हुआ तो कार्य-सिद्धि में सुगमता और एक प्रकार की तत्परता होती है। वास्तविक बात तो यह है कि कार्य की सिद्धि प्रधानतः संकल्प शक्ति पर अवलंबित है।

संकल्प-शक्ति

क्या संकल्प में दुःख दूर करने का सामर्थ्य है? इस प्रश्न का उत्तर है—अवश्य। संकल्प में अनन्त शक्ति है। संकल्प से दुःख दूर हो जाते है, साथ ही नवीन दुःख का प्रादुर्भाव नहीं होता।

संकल्प करना अर्थात् आत्मा को जागृत करना। जो जागृत होता है उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता। जो मनुष्य गाढ़ी नींद में सोया पड़ा हो या डर-पोक हो उसके घर में घुस कर चोर चोरी कर सकते हैं, पर जो मनुष्य जागृत है और साहसी है, उसके घर में घुसने का साहस चोर को नहीं होता। अगर हम जागृत होंगे तो चोर क्या कर सकेंगे? ऐसा विश्वास तुम्हें है, पर आध्यात्मिक विषय में यह विश्वास टिकता नहीं है। अगर तुम्हारी आत्मा जागृत है तो कर्म-चोर की क्या बिसात कि वह तुम्हारी शक्ति का अपहरण कर सके! तुम्हारी गफ़लत के ही कारण चोर तुम्हारे आत्मगृह में प्रवेश कर सका है। जिस क्षण तुम्हारी संकल्प-शक्ति जागृत होगी, उसी क्षण चोर बाहर निकल भागेंगे।

ज्ञान-दीप तप-तेल भर, घर सोधो भ्रम छोर।
या विधि बिन निकसै नहीं, पैठे पूरब चोर॥

अपनी संकल्पशक्ति का विकास करना ही आध्यात्मिक विकास है।

सत्संकल्प

सत्संकल्प का प्रभाव जड़ सृष्टि पर भी अवश्य पड़ता है। शास्त्र में कहा है-'तं सच्चं खु भयवं।' सत्य के प्रभाव से क्या नहीं हो सकता? सत्य के प्रभाव से ईश्वरत्व की भी प्राप्ति होती है। सत्य ही भगवान् है। सत्य से पूत संकल्प के प्रभाव से विष भी अमृत बन जाता है, अग्नि भी शीतल हो जाती है। सत्संकल्प में ऐसा महान् प्रभाव और अद्भुत क्षमता है।

जो संकल्प शुभ हो, जिसमें विकार न हो और जिसका पालन प्रत्येक स्थिति में किया जाय, वह सत्संकल्प है। जो संकल्प अस्वस्थ अवस्था में किया गया हो, उसका स्वस्थ अवस्था में भी पालन करना सत्संकल्प है। एक बार संकल्प कर लेना किन्तु संकल्प के अनुसार कार्य करने का समय आने पर कर्त्तव्य पालन न करना दृढ़ संकल्प नहीं कहा जा सकता।

उत्कृष्ट भावना

कुछ लोगों का भ्रम है कि गृहस्थ-अवस्था में रहते हुए भावना अमृतमय नहीं बन सकती। अतएव वे कहते हैं-हम क्या करें-भावना को अमृतमय बनाएँ या संसार-व्यवहार का निर्वाह करें? वास्तव में, गृहस्थ-अवस्थ साधक दशा में बाधक है किन्तु जो गृहस्थ अमृत-भावना का अभ्यासी बन जाता है, उसके लिए गृहस्थ-अवस्था सर्वथा बाधक नहीं है। अतएव मैं सिर्फ यही कहता हूँ कि परमात्मा की प्रार्थना द्वारा भावना को अमृतमय बनाने का प्रयास करो।

तुम चाहो तो तुम्हारे हृदय से भी भक्ति और अमृतमयी भावना का झरना

फूट सकता है। पर तुम बाह्य प्रपंचों में इतना तन्मय हो रहे हो कि वह प्रशान्त प्रवाह दूसरे मार्ग पर चला गया है और तुम यह जानते ही नहीं हो। इसलिए तुम अपनी बुद्धि को बहिर्मुख न होने देकर अन्तर्मुखी बनाओ। बस तुम्हारे हृदय से भी भक्ति और अमृतमयी भावना का पीयूष-प्रवाह प्रवाहित होने लगेगा।

जिन ज्ञानियों ने अपनी बुद्धि अन्तर्मुखी बना ली है, उनका मुख देखो तो. जान पड़ेगा कि अमृतमयी भावना के प्रभाव से उनका मुख कितना प्रफुल्लित है। कितना आह्लादमय है! कैसी अनुपम शांति उनके मुख पर किलोलें कर रही है? उनके नेत्र देखो तो मालूम होगा कि उनमें से कैसी अद्भुत ज्योति जग रही है। कैसा उल्लास उनमें से फूटा पड़ता है! उनकी किसी भी चेष्टा का अवलोकन करो, विदित होगा कि उनमें जैसे अलौकिक संयतता, अगाध गंभीरता और निस्पृहता भरी हुई है!

दुनिया के लोग जिसे पर्वत के समान दुःख अनुभव करते हैं, उस भयंकर दुःख के माथे पड़ने पर भी, जिस दिव्य भावना का पवित्र त्राण पाकर ज्ञानी जन प्रसन्न एवं प्रमोदमय बने रहते हैं, मानो चिउंटी भी शरीर पर नहीं रेंग रही है, उस भव्य भावना को खोजो। उसमें एक अद्भुत सामर्थ्य है। वह भावना एक ऐसा अनोखा यंत्र है, जिसमें घोर दुःख भी सुख का रूप धारण कर लेता है! वह वेदना की विकृति को निकाल फैंकती है।

गाली देने वाले के प्रति विचार

जब तुम्हें कोई गाली दे तो तुम्हें भी ऐसा उज्ज्वल विचार करना चाहिए कि इसके मुँह में गाली की जो गंदगी भरी थी, वह बाहर आ गई, यह बहुत अच्छा हुआ। इतने अंश में गाली देने वाले का मुँह शुद्ध हो गया, यह मेरे लिए प्रसन्नता की बात है।

किसान खाद के रूप में गंदगी का सदुपयोग कर लेता है और उससे उत्तम उपज होती है। इसी प्रकार तुम भी आत्म-कल्याण के रूप में गालियों का सदुपयोग कर सकते हो।

मन की एकाग्रता

मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। मन के संकल्प-विकल्प से ही अच्छे बुरे काम होते हैं। बिल्ली जिन दाँतों से अपने बच्चे को दबाती है उन्हीं दाँतों से चूहे को दबाती है। दाँत उसके वही हैं, मगर मानसिक क्रिया की विभिन्नता के कारण दोनों के दबाने में कितना अन्तर पड़ जाता है?

मन में इस प्रकार का जो अन्तर रहता है, उसका कारण मानसिक चंचलता है। मानसिक चंचलता दूर हो जाने पर मन में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं

रहता। यही मन के निरोध का लक्षण है। मन में अभेद भावना आ जाना मन के निरोध या मन की एकाग्रता का हेतु है।

कहा जा सकता है कि मन में भेदभाव न उत्पन्न होने देना और उसकी चंचलता को दूर करना योगियों के लिए भी सरल कार्य नहीं है, तब गृहस्थ लोग इसे किस प्रकार कर सकते हैं?

इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि इस संबंध में साधु और गृहस्थ के भेद का कोई प्रश्न ही नहीं है। जो पुरुष अपने जीवन को अभ्यास और वैराग्यमय बनाता है वही मन को वश कर सकता है। मन को वश करने के दो ही उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य।

मन को वश में करने के अभ्यास के संबंध में लम्बी चर्चा है। योगक्रिया का समावेश इस प्रकार के अभ्यास में ही होता है। सर्वप्रथम मन की अप्रशस्त प्रवृत्ति को रोक कर उसे प्रशस्त प्रवृत्ति में पिरो देना चाहिए। ऐसा करने से धीरे-धीरे मन पर पूर्ण नियंत्रण हो जाता है। एक ओर से मन को अप्रशस्त में जाने से रोका जाय ओर दूसरी ओर से उसे परमात्मा के ध्यान में पिरोते रहा जाय तो शनैः-शनैः मन वश में हो जायगा और मन की एकाग्रता साधी जा सकेगी।

मन को वशीभूत करने का दूसरा उपाय वैराग्य है। इन्द्रियों का समूह बलवान् होने के कारण मन को अपनी तरफ आकर्षित करता रहता है। इस आकर्षण से बचने के लिए वैराग्यभावना की साधना करनी चाहिए। वस्तुओं के प्रति विरक्ति रखने से इन्द्रियाँ उस ओर आकर्षित न होंगी और मन भी उस ओर जाने से रुक जायगा और तब स्थिर रह सकेगा। वस्तुओं के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने के लिए वस्तु के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। वस्तु-स्वरूप का यथावत् और गहरा चिन्तन न करने से ही वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न होता है। वस्तुओं का स्वरूप वास्तव में इतना उद्वेगजनक है कि उनके स्वरूप की दृढ़ प्रतीति हो जाने के पश्चात् राग-द्वेष को अवकाश नहीं रहता। राग द्वेष की कमी जितने अंश में होती जायगी, विरक्ति और तज्जन्य मानसिक एकाग्रता उतने ही अंश में बढ़ती जायगी। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य से ही मन को वश में किया जा जा सकता है।

मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है। चित्त का निरोध मानसिक एकाग्रता का परम्परा फल है। मन की एकाग्रता का तात्कालिक फल यह है कि आत्मा में अनिर्वचनीय, अपूर्व और अनुपम निराकुलता का उदय होता है। जिसका मन एकाग्र होता है वह जो कुछ बोलता है, सत्य ही बोलता है और जो कुछ मनोरथ करता है वह पूर्ण ही होता है। मानसिक एकाग्रता से सत्य-भाषण और मनोरथ की पूर्ति होती है। अतएव मन की एकाग्रता प्राप्त करो और उसे प्राप्त करने के लिए परमात्मा का भजन करो।

८

ज्ञान और क्रिया

एक कहता है—'अगर ज्ञान हमें प्राप्त हो गया है तो क्रिया की क्या आवश्यकता है?' दूसरा कहता है—'क्रिया ही कल्याणकारिणी है। ज्ञान प्राप्त कर लेने से कोई लाभ नहीं है।'

लक्ष्य दोनों का एक है, फिर भी लक्ष्य की उपलब्धि के मार्गों में समन्वय न होने के कारण दोनों में से एक भी लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। ज्ञान और क्रिया दोनों का समन्वय ही दोनों पैरों के समान लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक होता है। जो ज्ञान क्रिया का निषेध करता है वह ज्ञान नहीं, अज्ञान है। जो क्रिया अज्ञान पूर्वक की जाती है वह संसारभ्रमण का कारण होती है। दोनों का सम्यक् समन्वय परमार्थ-साधक है।

न केवल परमार्थ-साधन में ही, अपितु व्यवहार में भी ज्ञान और क्रिया—दोनों की आवश्यकता होती है। कोई मनुष्य स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहता है, पर केवल स्वतंत्रता को जान लेने मात्र से वह प्राप्त नहीं हो सकती और न उसे जाने बिना प्रयत्न करने से। ज्ञान और क्रिया दोनों होने पर ही वह प्राप्त हो सकती है। कड़कड़ाती भूख लगने पर भोजन के ज्ञान से ही भूख नहीं मिट सकती, और भोजन का स्वरूप समझे बिना भूख मिटेगी ही कैसे? इस प्रकार प्रत्येक व्यावहारिक सिद्धि के लिए ज्ञान और तदनुकूल क्रिया अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। शास्त्र में कहा है—'पढमं नाणं तओ दया।' पहले ज्ञान की आवश्यकता है, फिर दया अर्थात् चारित्र या क्रिया सम्भव है। ज्ञानहीन क्रिया अन्धी है और क्रिया-हीन ज्ञान पंगु है।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।

मुख के द्वारा भोजन किया जाता है, यह तो सभी जानते हैं, पर भोजन पथ्य है या अपथ्य, यह जानना भी आवश्यक है। अपथ्य भोजन करने वाले रोगी और परिणामतः दुखी देखे जाते हैं? इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक सिद्धि के लिए, चाहे वह व्यावहारिक हो या पारमार्थिक हो, तुच्छ हो या महान् हो, ज्ञान और क्रिया दोनों अपेक्षित हैं। जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता, इसी प्रकार अकेले ज्ञान और अकेली क्रिया से कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

ज्ञान-रहित क्रिया बहुत बार हानिकारक सिद्ध होती है। इसी प्रकार क्रिया-रहित ज्ञान तोतारटंत मात्र है। एक आदमी ने तोते को सिखाया कि—'बिल्ली आवे तो उससे बचना चाहिए।' तोते ने यह शब्द रट लिये रटता रहा। एक बार बिल्ली आई और उसने तोते को अपने निर्दय पंजे में पकड़ लिया। उस समय भी तोता यही रटता रहा—'बिल्ली आवे तो उससे बचना चाहिए।' लोग कहने लगे—मूर्ख तोता! अब कब बिल्ली आयगी और कब तू बचेगा!

आशय यह है कि तोते को ज्ञान होने पर भी क्रिया के अभाव में वह बच न सका। इस प्रकार क्रियाविहीन ज्ञान निरर्थक होता है।

आधुनिक शिक्षा तोता-रटन्त के समान ही है। जिस वस्तु पर अपना अधिकार नहीं उसे अपनी समझना और जिसे आप बना नहीं सकते उसे पाकर अभिमान करना और जीवन को पराधीन बनाना तोता-रटंत के समान है। उदाहरणार्थ—तुम्हारे सिर पर जो पगड़ी है उसे बनाने में तुमने क्या किया है? क्या यह पगड़ी तुमने बुनी या रंगी है? तुमने अपनी धोती कभी स्वयं बनाई है? अगर नहीं, तो उसे पहन कर अभिमान कैसे कर सकते हो?

भाइयो, अगर जीवन में किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त करनी है तो पहले उसका स्वरूप, उसके साधन और उसके मार्ग को समीचीन रूप से समझो और फिर तदनुकूल क्रिया करो। ऐसा किये बिना जीवन सफल नहीं हो सकता।

ज्ञान और चारित्र

जैन-धर्म का कथन है—उत्कृष्ट संयम का सद्भाव होने पर ही उत्कृष्ट ज्ञान आता है। यह संभव नहीं है कि उत्कृष्ट संयम तो न हो पर उत्कृष्ट ज्ञान का आविर्भाव हो जाय। कदाचित् उत्कृष्ट संयम से पहले ही उत्कृष्ट ज्ञान उत्पन्न होने लगे तो गजब हो जाय ऐसी स्थिति में संसार पतित हुए बिना न रहे। अतएव पहले मोह का सम्पूर्ण क्षय होता है, तदनन्तर ही परिपूर्ण ज्ञान—केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। मोह नष्ट होने से पहले ज्ञान उत्पन्न होना तो संसार पतित हो जाता। कल्पना कीजिए—आपको धन की लालसा है। धन का मोह ज्यों का त्यों बना हुआ है. फिर भी आपको अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाय, तो आप न जाने, कितनों का सफ़ाया कर डालेंगे? यह तो बिल्ली को पंख आने के समान होगा। बिल्ली को पंख आ जाएँ तो वह किसी भी पक्षी को चैन न लेने देगी। इस प्रकार धन का मोह छूटने से पहले आपको अवधिज्ञान प्राप्त हो जाय तो आप संसार में न जाने क्या उलटफेर कर डालें! बिल्ली को पंख नहीं आते, यही गनीमत है। पंख न आने से बिल्ली विशिष्ट पाप से बच जाती है और पक्षियों के प्राण बच जाते हैं। इसी भाँति मोह छूटने से पहले ज्ञान की उत्पत्ति न होने में ही कुशल है।

ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर

ज्ञानी और अज्ञानी के बीच यह एक महान् अन्तर है कि अज्ञानी जिन पदार्थों

को अपने विनोद और आमोद-प्रमोद का साधन समझता है, ज्ञानी उन्हीं पदार्थों को अपनी जीवन-साधना का कल्याणकारी साधन मानते हैं। किसी झरने का झर्-झर् शब्द सुन कर साधारण आदमी उसे विनोद का कारण मान कर थोड़ी देर खुश हो लेता है, परन्तु ज्ञानी जन उस ध्वनि को सुनकर गंभीर विचार करते हैं। वे सोचते हैं—'यह झरना, मेरे आने से पहले भी झर्-झर् ध्वनि कर रहा था, इस समय भी यही ध्वनि कर रहा है और जब मैं यहाँ से चल दूँगा तब भी इसका यह नाद निरन्तर जारी रहेगा। यह झरना न किसी की निन्दा की परवाह करता है, न प्रशंसा की, यह तो इसी प्रकार संगीत करता हुआ सागर में समा जाता है। एक ओर मैं हूँ, मनुष्य—प्रकृति का राजा! जो जरा-सी प्रशंसा सुन कर फूल कर कुप्पा हो जाता हूँ और तनिक-सी निन्दा सुनकर ज्वालाएँ उगलने लगता हूँ! ज्ञानी जन प्रकृति के प्रगाढ़ परिचय से ऐसा पाठ सीखते हैं।

\+ + + +

संसार के पदार्थ अलग-अलग दृष्टियों से देखे जाने पर अलग-अलग प्रकार के दिखाई देने लगते हैं। हाड़ पींजरे को देखकर कोई उसे अपना भोजन समझता है, तो कोई उसे अपनी खोज का साधन मानता है। किसी कुत्ते के सामने अस्थि-पञ्जर रख दिया जाय तो वह अपना भोजन समझ कर खाने लगता है। और अस्थि-पञ्जर किसी डाक्टर के सामने रख दिया जाय तो वह शरीर सम्बन्धी किसी खोज के लिए उसका उपयोग करता है। ज्ञानी और अज्ञानी के बीच भी इसी प्रकार का अन्तर है। अज्ञानी लोग हाड़-पींजरे का बाहरी रूप देखकर मोहित हो जाते हैं, और ज्ञानी जन बाहर दिखाई देने वाले रूप के पीछे क्या छिपा है, इस प्रकार का विचार करके वैराग्य-लाभ करते हैं।

ज्ञानी का निर्ममत्व

माथे पर अंगार रखे हों और मुनि तपस्या में लीन हों, यह कैसी असंभव-सी कल्पना है! परन्तु यह असंभावना, अपनी निर्बलता को प्रकट करती है। हमने शरीर और आत्मा के प्रति अभेद की कल्पना स्थिर कर ली है। हमारे अन्तःकरण में देहाध्यास प्रबल रूप से विद्यमान है। हम शरीर को ही आत्मा मान बैठे हैं। अतएव शरीर की वेदना को आत्मा की वेदना मान कर विकल हो जाते हैं। परन्तु जिन्होंने परमहंस की वृत्ति स्वीकार करके, स्व-पर भेदविज्ञान का आश्रय लेकर,

अपनी आत्मा को शरीर से सर्वथा पृथक् कर लिया है-जो शरीर को भिन्न और आत्मा को भिन्न अनुभव करने लगते हैं, उन्हें इस प्रकार की शारीरिक वेदना तनिक भी विचलित नहीं कर सकती। वे सोचते हैं-शरीर के भस्म हो जाने पर भी मेरा क्या बिगड़ता है ? मैं चिदानन्दमय हूँ, मुझे अग्नि का स्पर्श भी नहीं हो सकता।

जब आपका ध्यान दूसरी ओर होता है तो मामूली चोट का आपको पता नहीं लगता। बालक को खेल में खासी चोट लग जाती है पर वह खेल में तल्लीन होने से उस समय चोट का किञ्चित् भी अनुभव नहीं करता।

इसी प्रकार मुनि की आत्मानुभूति इतनी उग्र होती है, आध्यात्मिक ध्यान में ऐसी निश्चलता होती है कि शरीर की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। इस दशा में, जिसे हम भीषण उपसर्ग समझते हैं वह उपसर्ग, उनके लिए साधारण-सी वस्तु हो जाती है। दुःख एक प्रकार का प्रतिकूल संवेदन है। वह अपने आप में कुछ भी नहीं है। जिस घटना को प्रतिकूल रूप में अनुभव किया जाता है वही घटना दुःख बन जाती है। अगर उस पर ध्यान ही नहीं दिया जाय अथवा उसे प्रतिकूल संवेदन न किया जाय तो दुःख की वेदना नहीं हो सकती। यही कारण है कि एक ही घटना, विभिन्न मानसिक स्थितियों में विभिन्न प्रभाव उत्पन्न करती है। गाली कभी प्रतिकूल संवेदन के कारण दुःख उत्पन्न करती है और वही गाली सुसराल में, प्रिय जनों के मुख से निकलने पर, अनुकूल संवेदन के कारण सुख रूप हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि दुःख या सुख पहुँचाने की शक्ति गाली में नहीं है—अगर ऐसा होता तो वह सदा दुःख ही पहुँचाती या सदा सुख ही प्रदान करती। मगर ऐसा होता नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि गाली को सुख रूप और दुःख रूप में ढालने वाला सांचा दूसरा है। वह सांचा आत्मा के अधीन है। वही संवेदना का सांचा है।

साधारण जनता को अतिशय भीषण प्रतीत होने वाली घटना को भी मुनि-राज अपनी संवेदना के सांचे में ढालकर सुखरूप परिणत कर लेते हैं। यही कारण है कि गजसुकुमार मुनि मस्तक जलने पर भी दुःख की अनुभूति से बचे रहे।

ज्ञानी

ज्ञानी जन बालक के समान निर्विकार बनना चाहते हैं अथवा होते हैं।

सच्चे ज्ञानी अपनी स्थिति बालक के समान बना भी लेते हैं। किसी नारी पर उनकी नज़र पड़ती है तो उसे माता के रूप में ही देखते हैं। कोई गालियाँ देता है तो वह अपने निर्दोष हास्य से उनकी उपेक्षा कर देते हैं। सम्यग्ज्ञान का कवच प्रत्येक स्थिति में उनकी रक्षा करता है।

ज्ञानी पुरुष और गाली

साधारणतया लोग गाली सुनते ही क्षुब्ध हो जाते हैं। क्षोभ की ज्वालाओं में विवेक घी बनकर भस्म हो जाता है। पर ज्ञानवान् पुरुषों का चरित्र विचित्र होता है। वे गालियों में भी सत्य की शोध करते हैं।

ज्ञानी पुरुष गाली सुनकर सोचते हैं—गाली देने वाला शरीर को गाली देता है या आत्मा को ? अगर शरीर को गाली देता है तो इसमें मेरा क्या बिगाड़ हुआ ? मैं शरीर नहीं हूँ। मैं शरीर से निराला सच्चिदानन्दमय चेतन हूँ। अगर आत्मा को गाली देता है तो इसका और मेरा आत्मा समान है। इसके अतिरिक्त आत्मा को गाली लग नहीं सकती।

गाली देने वाला अपनी जिह्वा का दुरुपयोग करता है, पाप का उपार्जन करता है। वह मानसिक दुर्बलता का शिकार है, अतएव करुणा का पात्र है। जो करुणा का पात्र है उस पर क्रोध करना विवेकशीलता नहीं है।

गाली देने वाला अगर पाप करता है तो उसका मुकाबिला करने के लिए मुझे पाप क्यों करना चाहिए ? ऐसा करने से हम दोनों में क्या अन्तर रह जायगा ?

पाप से पाप का मुकाबिला करने पर पापों की परम्परा अक्षय हो जायगी। पाप का क्षय धर्म से हो सकता है। धर्म से ही पाप का प्रतीकार करना हितावह है।

ज्ञानी और अज्ञानी

ज्ञानी पुरुष मन से, वचन से और तन से क्षण-क्षण में पुण्यकार्य करके पुण्य-प्रकृति का बन्ध करते हैं और अज्ञानी पापाचरण करके पल-पल में पाप की पोटली बांधते हैं।

ज्ञानी का प्रत्येक कार्य विश्वकल्याण की कामना से होता है और अज्ञानी का स्वार्थ-लिप्सा से। अतएव ज्ञानी के कार्य उसे स्वर्ग का स्वामी बनाते हैं और

अज्ञानी के कार्य अज्ञानी को नरक का अतिथि बनाते हैं !

क्रियाशील बनो

संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो किसी कार्य की प्रशंसा में 'वाह ! वाह !' के नारे लगाते हैं और जब वही कार्य सिर पर आ पड़ता है तो एक ओर खिसक जाते हैं। इस प्रकार की दुरंगी नीति से कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता। अतएव हमारी प्रामाणिकता का यह तकाज़ा है कि हम जिस कार्य को हृदय से अच्छा समझें उस कार्य को क्रिया में उतारने का हृदय से प्रयास करें। दूसरों को खुश करने के लिए मुँह से वाह-वाह करना कार्यकर्त्ताओं को और अपने अन्तः-करण को छलने की चालाकी है। चालाकी से दुनियाँ खुश हो सकती है, परमात्मा नहीं।

वचन और कार्य

सौ निरर्थक बातें करने की अपेक्षा एक सार्थक कार्य करना अधिक श्रेयस्कर है। दूसरे के किसी सद्गुण की प्रशंसा करना अच्छा है, परन्तु उसे अपने जीवन में उतारने की प्रबल चेष्टा करना उससे भी अच्छा है।

जैसे मक्खी गंदगी खोजती है, उसी प्रकार तुम दूसरों के दुर्गुण खोजोगे तो अपने ही पैर पर कुल्हाड़ा मारना होगा। पराये दुर्गुणों पर दृष्टि डालने की अपेक्षा और उनका प्रचार करने की अपेक्षा, चुपचाप अपने दुर्गुणों को पहचानना और उन्हें नष्ट करने का प्रयत्न करना लाख दर्जे श्रेष्ठ कार्य है।

तर्क और श्रद्धा

बुद्धिवाद का यह ज़माना है। मनुष्य अपने बुद्धिवैभव पर फूला नहीं समाता। प्रत्येक विषय में तर्क-वितर्क किया जाता है। पर केवल तर्कबुद्धि से काम नहीं चलता। तर्क तो पारे की तरह चपल है। 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' तथा 'तक्का तत्थ न विज्जइ' इत्यादि अनुभवप्रसूत उद्गारों से प्राचीन शास्त्रकारों ने तर्क की अक्षमता घोषित की है। प्रकृति के निगूढ़तर रहस्य और सूक्ष्मतम अध्यात्मतत्त्व बुद्धि या तर्क के विषय नहीं हैं। तर्क उनके निकट भी नहीं पहुँच पाता। ऐसी

स्थिति में बुद्धि या तर्क के भरोसे बैठा रहने वाला सम्यग्ज्ञान से वंचित रहता है।

श्रद्धा ने मानवजाति का परम हित-साधन किया है। जहाँ मनुष्य अपने को असहाय पाता है, वहाँ श्रद्धा उसकी सहायता करती है।

इस प्रकार तर्क और श्रद्धा दोनों का जहाँ समन्वय होता है, वहीं सत्य की उपलब्धि की संभावना हो सकती है।

९

संघ और वर्णव्यवस्था

संघ

संघ तो महान् है पर उसमें संग नहीं दिखाई देता। संग का तात्पर्य है, जंघा का पेट को: पेट का भुजा को: भुजा का मस्तक को: मस्तक का भुजा, पेट एवं जंघा को: भुजा का पेट, मस्तक और जंघा को; पेट का मस्तक, भुजा और जंघा को: और जंघा का मस्तक, भुजा और पेट को सहायता देना। चारों अंगों का संगठन होना चाहिए। मस्तक में ज्ञान हो, भुजा में बल हो, पेट में पाचनशक्ति हो और जंघाओं में गतिशीलता हो, तो अभ्युदय में क्या कसर रह जायगी! अगर संघ-शरीर के संगठन के लिए सर्वस्व का भी त्याग करना पड़े तो भी वह त्याग कोई बड़ी चीज़ नहीं होनी चाहिए। संघ के संगठन के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने में भी पश्चात्पद नहीं होना चाहिए। संघ इतना महान् है कि उसके संगठन के हेतु, आवश्यकता पड़ने पर पद और अहंकार का मोह न रखते हुए, इन सब का त्याग कर देना श्रेयस्कर है।

आज यदि संघ सुसंगठित हो जाय, शरीर की भाँति प्रत्येक अवयव एक दूसरे का सहायक बन जाय, समस्त शरीर का श्रेय ही एक-एक अवयव का मुख्य लक्ष्य हो जाय, तो साधुता की वृद्धि हो, संघशक्ति का विकास हो, तथा धर्म एवं समाज की विशिष्ट उन्नति हो। इस पवित्र और महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मैं तो अपनी पदमर्यादा को भी त्याग देने के लिए तैयार हूँ। संघ की सेवा में पारस्परिक अनैक्य को कदापि बाधक नहीं बनाना चाहिए।

ऐक्य--भंग पाप है

संघ की एकता के पवित्र कार्य में विघ्न डालना घोर पाप के बन्ध का कारण है। भगवान् ने संघ में अनेकता उत्पन्न करना सब से बड़ा पाप बताया है। और सभी पाप इस पाप से छोटे हैं। चतुर्थ व्रत खंडित होने पर नवीन दीक्षा देकर साधु को शुद्ध किया जा सकता है लेकिन संघ की शांति और एकता भंग करके अशांति और अनैक्य फैलाने वाला--संघ को छिन्नभिन्न करने वाला दशवें प्रायश्चित्त का अधिकारी माना गया है। इससे यह स्पष्ट है कि संघ को छिन्नभिन्न करना घोर पाप का कारण है। जो लोग अपना बड़प्पन कायम करने के लिए दुराग्रह करके संघ में विग्रह उत्पन्न करते हैं, वे घोर पाप करते हैं। अगर आप संघ की शांति और एकता के लिए सच्चे हृदय से प्रार्थना करेंगे तो आपका हृदय तो निष्पाप बनेगा ही, साथ ही संघ में अशांति फैलाने वालों के हृदय का पाप भी धुल जायगा। संघ में एकता होने पर संघ की सब बुराइयाँ नष्ट हो जाती हैं।

संघ-सेवा

भारत रूपी मानसरोवर के राजहंसो! अगर तुम इतना भी न कर सके तो भारत का ऋण किस प्रकार चुकाओगे?

अगर आप संघ की विजय करना चाहते हैं तो संघ का संगठन करो। वर्तमान युग इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वह ऐसा युग है, जिसका भविष्य के साथ गहरा सम्बन्ध रहेगा। जैनों की संख्या ११-१२ लाख के करीब है। यह संख्या पैंतीस करोड़ की जन संख्या में नगण्य-सी है; फिर भी अगर आप संगठित हो जावें तो वीरसंघ की प्रतिष्ठा बढ़ा सकते हैं। अगर आप में संगठन का बल न होगा तो आप किसी गिनती में न रहेंगे। अतएव संगठित होकर अपनी शक्ति केन्द्रित करो और वीर-संघ को शक्तिशाली बनाओ। संघसेवा का बहुत बड़ा माहात्म्य है। यह कोई साधारण कार्य नहीं है। संघ की उत्कृष्ट सेवा करने से तीर्थंकर गोत्र का बंध हो सकता है। अगर आप संघ की सेवा करेंगे तो आपका कल्याण होगा।

व्यक्ति--समष्टि

व्यक्ति चाहे जितना महान् हो फिर भी समष्टि के मुकाबिले उसकी महत्ता कम ही है। किसी भी अवस्था में एक व्यक्ति समष्टि से अधिक वज़नदार नहीं हो सकता; क्योंकि समष्टि के वजन में उस व्यक्ति का भी वजन सम्मिलित है, और साथ ही अन्य व्यक्तियों का भी जो उस समष्टि के अंग हैं। अतएव व्यक्ति की अपेक्षा उस समूह का, जिसमें वह स्वयं भी सम्मिलित है, सदैव अधिक मूल्य ठहरेगा। इसलिए मै कहता हूँ कि एक व्यक्ति की रक्षा की अपेक्षा सम्पूर्ण विश्व की रक्षा का कार्य्य अधिक महत्वपूर्ण, उपयोगी और श्रेयस्कर है। गांधीजी ने अमेरिका को जो संदेश भेजा उसमें समस्त संसार की फाँसी छुटाने का प्रयोजन है! संसार अहिंसा की आराधना द्वारा ही फॉसी से छुटकारा पा सकता है। अहिंसा देवी की वात्सल्यमयी गोदी में जब प्रत्येक राष्ट्र सन्तान की भाँति लोटेगा, तभी उसमें सच्चा बन्धुत्व पनप सकेगा। अहिंसा भगवती ही बंधुत्व का अमृत संचार कर सकती है। अहिंसा माता के अतिरिक्त और किसी का सामर्थ्य नहीं कि वह बन्धुभाव का प्रादुर्भाव कर सके और आत्मीयता का सम्बन्ध विभिन्न राष्ट्रों एवं विभिन्न जातियों में स्थापित कर सके।

विभिन्न-विभिन्न समयों में जन्म लेने वाले व्यक्ति एक ही माता के हृदय का रस पान करके सहोदर बन जाते हैं: इसी प्रकार विभिन्न राष्ट्रों के मानव जिस दिन एक अहिंसा माता का रस-पान करेंगे उसी दिन वे 'सहोदर' बन सकेंगे।

चातुर्वर्ण्य स्वरूप

चातुर्वर्ण्य समाज का विराट रूप है। इसमें क्षमा और विवेक के सागर ब्राह्मण मस्तक माने गये हैं। पराक्रमी वीर क्षत्रिय बाहु माने गये हैं। उदार दानी वैश्य पेट माने गये हैं और सेवा-भक्ति करने वाले शूद्र पैर माने गये हैं।

वर्णव्यवस्था के बिना भारत की दुर्दशा

जब तक भारत में वर्ण-व्यवस्था ठीक रही तब तक उसे किसी प्रकार का कष्ट

नहीं भोगना पड़ा। पर जब से एक मस्तक में कई मस्तक हुए, हाथों में से कई हाथ निकल पड़े अर्थात् ब्राह्मणों मे कई-एक उपजातियाँ खड़ी होगईं, क्षत्रियों में अनेक शाखाएँ और प्रशाखाएँ बन गईं, वैश्यों में विभिन्न जातियों की उत्पत्ति हुई और शूद्र विविध हिस्सों में विभक्त हो गये, तभी से देश की हीन अवस्था आरंभ हुई और धर्म के कर्म नष्टभ्रष्ट हो गये। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर-धर्मो भयावह' इसी अव्यवस्था को सुधारने के लिये कहा गया था। इसी गड़बड़ को मिटाने के लिए आचार्य जिनसेन ने राजाओं को सलाह दी थी कि अगर कोई वर्ण वाला अपने कर्त्तव्य कर्म को अतिक्रमण करके अन्य धर्म का आचरण करे तो राजा को उसे रोक देना चाहिए, अन्यथा वर्णसंकरता फैल जायगी।

जो भारत अखिल विश्व का गुरु था और सबको सभ्यता सिखाने वाला था, आज वह इतना दीन-हीन हो गया है कि आध्यात्मिक विद्या की पुस्तकें जर्मनी से मंगाता है। युद्धसामग्री के लिये अमेरिका के प्रति याचक बनता है, नीति-धर्म की पुस्तकों के लिए इंग्लैण्ड के सामने हाथ पसारता है। और तो और, सुई जैसी तुच्छ चीज़ के लिए भी वह विदेशियों का मुँह ताकता है। इसका क्या कारण है?

वर्ण-व्यवस्था

आज असली वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो चुकी है और उसके स्थान पर अनगिनती जातियाँ-उपजातियाँ दिखाई पड़ती हैं। अब तो ब्राह्मण-ब्राह्मण, क्षत्रिय-क्षत्रिय, वैश्य-वैश्य और शूद्र-शूद्र भी एक नहीं हैं। शूद्रों में भी एक जाति का शूद्र दूसरी जाति के शूद्र को स्पर्श करना पाप समझता है। न जाने अस्पृश्यता कहाँ से और कैसे चल पड़ी है, जिसने भारतीय जन समाज की एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया और जो भारतवर्ष के विकास में बड़ी बाधा बनी हुई है। इससे समाज का उत्थान कठिन हो गया है और अब लोग अस्पृश्यता को भी धर्म का अंग मान रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे आजकल जातियों के नाम पर संकीर्ण दल मौजूद हैं और उनके कारण व्यापक भावना उत्पन्न नहीं होने पाती, वैसे दल उस समय नहीं थे। अतएव विवाह आदि कार्यों में जातीय भेदभाव बाधक नहीं बनता था। वर्ण थे, पर सभी वर्णों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध होता था।

कर्म से ब्रह्मणादि की व्यवस्था

मनुष्य के ऊपर न तो कोई ब्राह्मणत्व की छाप लगी है और न शूद्रत्व की। जिस प्रकार ब्राह्मण अंग-प्रत्यंग से व्यावहारिक काम करता है उसी प्रकार शूद्र भी काम करता है। फिर दोनों में अन्तर क्या है? दोनों में अगर कोई अन्तर हो सकता है तो यही कि ब्राह्मण में ब्राह्मण सम्बन्धी पठन-पाठन आदि लक्षण विद्यमान हैं और शूद्र में सेवा करना आदि शूद्र के लक्षण होते हैं। मगर कई एक

ब्राह्मण सेवाधर्म अंगीकार किये हुए हैं और सेवा करना शूद्र का धर्म है। जब कोई ब्राह्मण शूद्र का काम अपनाता है तो क्या वह कार्य की अपेक्षा से शूद्र नहीं कहलाएगा? इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान आदि कोई ब्राह्मणोचित गुण किसी शूद्र में विद्यमान् हो तो क्या वह उस अपेक्षा से ब्राह्मण नहीं कहलाएगा?

वर्ण-व्यवस्था-और विकार

शास्त्रों के मर्म का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् के द्वारा की हुई वर्ण-व्यवस्था कर्त्तव्य की सुविधा के लिए थी। वह अहंकार का पोषण करने के लिए नहीं थी। अतएव आज वर्णों के नाम पर जो उच्चता नीचता की भावना फैली हुई है, वह वर्णव्यवस्था का स्वरूप नहीं है। वह वर्ण-व्यवस्था का विकार है। प्रत्येक व्यवस्था कुछ समय व्यतीत होने पर सर्वसाधारण के सम्पर्क से विकृत हो जाती है। यहाँ तक कि लोग उसका मूल-सिद्धान्त भुला देते हैं और उसके विविध विकारों को इतना अधिक महत्व दे देते हैं कि उसके मूल-सिद्धान्त को खोज निकालना भी मुश्किल हो जाता है। जब उस व्यवस्था का मूल सिद्धान्त विकारों में दब जाता है तो अनेक लोग उसे हानिकारक और अनुपयोगी समझ कर, उससे घृणा करने लगते हैं। अगर इस प्रकार घृणा करने वाले लोग दोष के पात्र हैं, तो उनसे पहले दोषी वे हैं जो अमृत सरीखी हितकारक शुद्ध व्यवस्था में विकार के विष का सम्मिश्रण करके उसे विषैली बना डालते हैं। तथापि विवेकशील विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि वे किसी व्यवस्था को समूल नष्ट करने का प्रयत्न करने से पहले उसके अन्तस्तत्त्व का अन्वेषण करें और उसे पहिचान कर आये हुए विकारों को ही दूर करने की चेष्टा करें!

क्षत्रिय

क्षत्रिय को हाथ की उपमा दी गई है। हाथ को ही यह सुविधा प्राप्त है कि वह सम्पूर्ण शरीर को स्पर्श कर सकता है और सम्पूर्ण शरीर की सारसंभाल कर सकता है। शरीर के सब अवयवों में हाथ को ही यह योग्यता प्राप्त है। शरीर का पालन करने वाला भी हाथ ही है। कमाई हाथ से ही होती है और खानपान की क्रिया भी हाथ से ही हो सकती है। इस कारण हाथ ही शरीर का पालक-पोषक है। लिखने आदि की अनेक क्रियाएँ हाथ पर ही निर्भर हैं। शरीर में हाथ न हो तो काम चल नहीं सकता। हाथ, शरीर के किसी भी भाग से घृणा नहीं करता। वह

मुख को भी साफ करता है और पैर को भी साफ करता है।

यही बात क्षत्रियों के संबंध में है। क्षत्रिय राष्ट्र-शरीर के सब अंगों का-समस्त प्रजा का पालन करता है। वह किसी के प्रति घृणा या तिरस्कार का भाव अपने में उदित नहीं होने देता। क्षत्रिय ब्राह्मण का भी-पालन करता है और चांडाल का भी। वह सब की सार-संभाल रखता है।

वैश्यों का कर्तव्य

वैश्य देश के पेट के समान हैं। पेट आहार को स्थान अवश्य देता है परन्तु उस आहार का उपभोग समस्त शरीर करता है। वह सिर्फ अपने ही लिये आहार जमा नहीं करता। वैश्य देश की आर्थिक-दशा का केन्द्र है। देश की आर्थिक स्थिति को सुधारना उसका कर्त्तव्य है। वैश्यों को आनन्द श्रावक का आदर्श अपने सामने रखना चाहिए और स्वार्थमय वृत्ति का त्याग कर जन-कल्याण की भावना को हृदय में स्थान देना चाहिए।

अस्पृश्य-

धर्मभावना का तकाज़ा है कि मनुष्य मात्र को भाई समझा जाय। प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक मनुष्य का बन्धु है। बन्धु का अर्थ सहायक है। इस प्रकार शूद्र आपके सहायक हैं और आप शूद्रों के सहायक हैं। चमार ने जूता बनाया और आपको पहना दिया। क्या यह आपकी सहायता नहीं है? भंगी ने आपका पाखाना साफ़ किया, आपकी नाली स्वच्छ की और आपको बदबू एवं बीमारियों से बचा दिया। क्या भंगी ने आपकी मदद नहीं की? क्या आपकी सहायता का पुरस्कार यह होना चाहिए कि वह नीच गिना जाय? सफाई करके भयंकर बीमारियों की संभावना दूर कर देने वाले महतर को नीच गिनना क्या कृतज्ञता की भावना के अनुकूल है? मानव-समाज का असीम उपकार करने वाले वर्ग को अस्पृश्य, घृणास्पद या नीच समझने वाले लोग अपने को जब उच्च-वर्ग का कहते है तो समझ में नहीं आता कि उच्चता का अर्थ क्या है? क्या उच्चता का अर्थ कृतघ्नता है?

याद रक्खो, यह नीच कहलाने वाले लोग हिन्दू धर्म के प्यारे लाल हैं। इन्हें धिक्कार मत दो। इनका अपमान मत करो। इनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करो। इन पर दया करो। इनके साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करो।

शूद्र आपके समाज की नींव हैं। महल का आधार नींव है। नींव में अस्थिरता आ जाने से महल स्थिर नहीं रह सकता। अगर तुमने शूद्रों को अस्थिर कर दिया—विचलित कर दिया तो तुम्हारे समाज की नींव हिल उठेगी। तुम्हारी संस्कृति धूल में मिल जायगी।

मनुष्य-शरीर अनन्त पुण्य के फल से मिलता है। चाहे मनुष्य राजा हो या रंक हो, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो; उसे मानव-शरीर बड़ी ही कठिनाई से प्राप्त हुआ है। आप सोचिए, मनुष्य की पुण्याई अधिक है या कुत्ते की ? आप कहेंगे—'मनुष्य की।' वास्तव में यही बात है।

एक बार मैं रतलाम में जा रहा था। अचानक मेरी दृष्टि एक कुत्ते पर पड़ी। कुत्ता बोरी के पाल पर सोया हुआ था। उसके सामने पूड़ियाँ पड़ी हुई थीं। एक ओर जल का पात्र रक्खा था। अनुमान किया, कुत्ता बीमार है और लोग उसकी सेवा करते हैं।

उस दिन मैंने व्याख्यान में पूछा—आप जैसे बीमार कुत्ते की सेवा करते हैं उसी प्रकार बीमार भंगी की सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं या नहीं ?

यह प्रश्न सुनकर लोगों को आश्चर्य हुआ। कुछ ने दबी जबान से कहा— 'महाराज ! भंगी की सेवा ? यह कैसे हो ?'

मैंने उनसे पूछा—मनुष्य की पुण्याई अधिक है या कुत्ते की ? अगर मनुष्य अधिक पुण्यशाली है तो यह भेद क्यों ? भंगी मैले का टोकरा अपने सिर पर ही रखता है मगर कुत्ता तो उसे खा भी लेता है। मुर्दा जानवर को भंगी घसीट कर ले जाता है और बस्ती से बाहर, दूर डाल देता है, मगर कुत्ता उससे पेट भरता है। तब दोनों में अधिक अपवित्र कौन है ?

कहा जा सकता है—भंगी भी मुर्दा जानवर खाते हैं। मगर मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि कई खाते हैं और कई नहीं भी खाते, मगर जो खाते हैं उनके दोष का उत्तरदायित्व क्या तुम पर भी नहीं है ? तुम उनसे घृणा करके दूर भागते हो, उन्हें दुरदुराते हो, समय पड़ने पर उनकी सेवा नहीं करते, पेट भर अन्न नहीं देते, उन्हें धार्मिक शिक्षा नहीं देते, स्वास्थ्यरक्षा की विधि नहीं समझाते। क्या यह उत्तरदायित्व तुम्हारा नहीं है ?

भगवान् ऋषभदेव ने वनिता नगरी बसाई थी। वहाँ क्या झाड़ू देने वाला न होगा? अवश्य होगा।

कल्पना कीजिए, किसी गृहस्थी में दो बाइयाँ हैं। एक हीरे जड़ी चूड़ियाँ पहन कर, सुगंधित तेल-इत्र लगा कर, सुन्दर और सुकोमल वस्त्र पहन कर, झूले में झूल रही है। भोजन के समय भोजन करती है और विलास में डूबी रहती है। उसी गृहस्थी में दूसरी बाई धर्मशीला है। वह सिंगार की परवा नहीं करती। नाज़-नखरे में दिल नहीं लगाती। घर को साफ़-सुथरा रखती है। बच्चों की अशुचि मिटाकर उन्हें नहलाती है, स्वच्छ वस्त्र पहनाती है। उनके भोजन की व्यवस्था करती है।

आप इन दोनों में से किसे अच्छा समझते हैं? किसे जीवनदात्री मानते हैं? मौज करने वाली को या काम-काज करने वाली को?

माता तुम्हें क्यों प्यारी लगती है? इसलिए कि वह सेवा करती है? अगर माता ने तुम्हारा मैला न धोया होता, आप गीली ज़मीन पर सोकर तुम्हें सूखी ज़मीन पर न सुलाया होता तो क्या तुम उसे अपनी माता कह कर गौरव मानते?

अंत्यजों के विषय में तनिक विचार कीजिए। वह आपकी अशुचि उठाते हैं तथा दूसरे सफाई के काम करते हैं। फिर भी आप उनसे घृणा करते हैं। आपकी अशुचि को दूर करके स्वच्छता रखना क्या उनका इतना बड़ा अपराध है? एक आदमी यहाँ अशुचि बिखेरता है और दूसरा उसे साफ़ कर डालता है, तो आप दोनों में से किसे अच्छा समझेंगे? आपकी अन्तरात्मा की सच्ची ध्वनि क्या होगी? यदि साफ़ करने वाले को आप अच्छा समझेंगे तो पाखाने में अशुचि फैलाने वाले अच्छे या उनकी सफाई करने वाले? क्यों आप सफाई करने वालों से घृणा करते हैं? खयाली एवं कुसंस्कारजन्य धारणा से मुक्त होकर थोड़ी देर के लिए गंभीर विचार कीजिए कि वर्णव्यवस्था के आरंभ में भगवान् ऋषभदेव ने आज अस्पृश्य या अन्त्यज कहलाने वाले भाइयों को क्या तत्त्व समझाकर इस सेवा के लिए उत्साहित किया होगा? इस महत्वपूर्ण सेवा-कार्य करने के उपलक्ष्य में पुरुष को महत्तर और स्त्री को महत्तरानी जैसे अतिशय महत्वसूचक नाम से संबोधित किया गया है।

भारतवर्ष में जब गौ का सत्कार होता था तब वह सच्चे हृदय से गोमाता कह कर पुकारी जाती थी। उस समय गोहत्या करने वाले जाति से बहिष्कृत किये जाते थे और उन्हें सर्वसाधारण की दुस्सह घृणा का पात्र बनना पड़ता था। उनके मुँह देखने में भी लोग पाप समझते थे। पर आज सरे मैदान गोहत्या करने वालों एवं गोमांसभक्षियों के साथ हाथ मिलाना बड़प्पन समझा जाता है। क्या यह लज्जा की बात नहीं है! क्या गोरी चमड़ी होने से ही किसी में देवत्व आ जाता है? यह भारतीय जनता के पतन का जीता-जागता प्रमाण है। भाइयो, अन्त्यज भाइयों से घृणा करना त्यागो। उन्हें दुरदुराने के कारण वे अपनी ही निगाहों में गिर गये हैं और इस कारण उनमें कई बुराइयाँ आ गई हैं। उनसे सम्पर्क स्थापित करके उनकी बुराइयाँ दूर करो। मद्यपान एवं मांसभक्षण की उनकी आदतें मिटाओ। याद रक्खो, तुम अपने भाइयों को नहीं चाहते, उन्हें हिकारत की निगाह से देखते हो, इसी कारण गोहत्यारे तुम पर राज्य करते है और तुम्हें उनका सन्मान करना पड़ता है।

जो आपके रास्ते को साफ़-स्वच्छ करते हैं, पाखानों की सफाई करके शुद्ध वायु का संचार करते हैं, उन्हीं को तुम धिक्कारते हो; पर विलायत में बैठे हुए घोर पाप करने वालों को अपने यहाँ निमन्त्रित करने में अपना अहोभाग्य मानते हो, यह न्याय है या अंधेर है? धर्म को ठुकराना और अधर्म को पुचकारना इसी को कहते हैं।

मनुष्य आज किस प्रकार मिथ्या अहंकार का वशवर्त्ती बन गया है? भंगी, चमार आदि कुएँ से पानी नहीं ले सकते। यही नहीं, यह विष कहीं-कहीं तो इतना उग्र बन गया है कि सवर्ण कहलाने वाले लोग उन्हें ऊपर से पानी डालने के लिए भी तैयार नहीं होते। इसमें भी उनके धर्म को ठेस लगती है! भला इस अत्याचार की भी कोई सीमा है? आज ईसाई-मुसलमान आदि के बच्चे के साथ अपने बच्चे बैठ सकते हैं, पढ़-लिख सकते हैं पर किसी अन्त्यज की परछाई पड़ने से ही उनका धर्म डूब जाता है। अन्त्यज का बच्चा पाठशाला में पैर नहीं रख सकता।

समाज में शूद्र का स्थान पैर के समान है, तब भी उसे पैर तो समझो। मैं उसे सिर समझने की बात नहीं कहता। जो जिस जगह उपयुक्त है उसे वह स्थान प्रदान करो।

कुछ लोग समझते हैं कि मैं चारों वर्णों को एकाकार करने की बात कहता

हूँ। यह उनका भ्रम है। मैं अंत्यजों के साथ रोटी-बेटी-व्यवहार करने की बात नहीं कह रहा हूँ। मैं उनके प्रति मनुष्योचित एवं सहानुभूतिमय व्यवहार की बात कहता हूँ। यह भी उनके प्रति ऐहसान करने के लिए नहीं, वरन् अपने धर्म की रक्षा के लिए, न्याय के लिए और मनुष्यता की प्रतिष्ठा के लिए कहता हूँ।

अन्त्यजों के प्रति दुर्व्यवहार करके आप धर्म का उल्लंघन करते हैं, मनुष्यता का अपमान करते हैं, देश और जाति को दुर्बल बनाते हैं, अपनी शक्ति को क्षीण करते हैं और अपनी ही आत्मा को गिराते हैं।

१०

शिक्षा

सच्ची शिक्षा

मित्रो ! शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे गरीबों का हित हो। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को समझे, उसे विकसित करे और धीरे-धीरे उसका दायरा विशाल से विशालतर होता चला जाय। शिक्षा का फल यह नहीं है कि शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति निर्बलों, अशिक्षितों गरीबों का भार रूप बने। अपनी विलासिता की वृत्ति में वृद्धि करके दूसरों को चूसे। जिस शिक्षा की बदौलत गरीबों के प्रति स्नेह, सहानुभूति और करुणा का भाव जागृत होता है, जिससे देश का कल्याण होता है और विश्वबन्धुता की ज्योति अन्तःकरण में जाग उठती है, वही सच्ची शिक्षा है।

आधुनिक शिक्षा और उसका दुष्परिणाम

भारत में शिक्षा की बहुत ही कमी है। जो शिक्षा दी भी जाती है, वह इतनी निकम्मी है कि शिक्षा प्राप्त करने वाले युवक किसी कामके नहीं रहते। वे गुलामी के लिये तैयार किये जाते हैं और गुलामी में ही अपने दिन व्यतीत करते हैं। उनका अपनापन अपने तक या अधिक से अधिक अपने संकीर्ण परिवार तक ही सीमित रहता है। उससे आगे की बात उनके मस्तिष्क में प्रायः कभी आती ही नहीं है। वे अपने को समाज का एक अंग मानकर समाज के श्रेय में अपना श्रेय एवं समाज के अमंगल में अपना अमंगल नहीं मानते। समाज में व्यक्ति का वही स्थान है जो विशाल जलाशय में एक जल-कण का होता है। जल-कण जलाशय से अपने आपको भिन्न माने तो क्या यह ठीक होगा ? इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जब सामाजिक भावना से हीन होजाता है, अपनी सत्ता स्वतन्त्र और निरपेक्ष समझने लगता है, तब समाज का उत्थान रुक जाता है, राष्ट्र की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। ऐसे लोगों से विश्वसेवा की आशा ही क्या की जा सकती है ?

पहले यह नियम था कि पहले शिक्षा, पीछे स्त्री मिलती थी। प्रत्येक बालक को ब्रह्मचर्यमय जीवन व्यतीत करते हुए विद्याभ्यास करना पड़ता था। अब आज-कल प्रायः पहले स्त्री और पीछे शिक्षा मिलती है। जहाँ यह हालत है वहाँ सुदृढ़ शारीरिक सम्पत्ति से सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान् कहाँ से उत्पन्न होंगे ?

जैसा कि अभी लिखा जा चुका है, आजकल जो शिक्षा मिलती है उसका जीवनसिद्धि के साथ कोई सरोकार नहीं है, वह बेकार-सी है, फिर भी वह बड़ी बोझीली हैं। विद्यार्थियों पर पुस्तकों का इतना अधिक बोझा लादा जाता है कि बेचारे रोगी बन जाते है। चेहरे पर ओज नहीं, तेज नहीं, रूखा और पीला चेहरा धँसी हुई आँखें, कृश शरीर, गालों में गड्ढे, यही सब विद्यार्थी की सम्पत्ति होती है।

युवावस्था में जब यह दशा होती है, जवानी में बुढ़ापा आजाता है तब बुढ़ापे में क्या होगा, यह विचारणीय प्रश्न है। अकसर अनेक युवकों का बुढ़ापा ही नहीं आने पाता और वे विधवा की संख्या में एक भी वृद्धि करके चल बसते हैं।

आप लोग गुरुकुलों और विद्यालयों की प्रशंसा करते हैं, समय-समय पर उनके संचालन के लिए आर्थिक सहायता भी देते हैं; पर अगर आप सचमुच ही उन्हें कल्याणकारी समझते हैं तो उन संस्थाओं में अपने बालकों को प्रविष्ट क्यों नहीं कराते? प्रायः गरीबों के ही बालक उन संस्थाओं में क्यों हैं? अपने लड़कों को पढ़ाने के लिए आप दूसरी जगह भेजें और दूसरों के लड़कों के लिए इन्हें अच्छी बनावें, यह कौन सा न्याय है? ऐसी स्थिति में यह संस्थाएँ अच्छी कैसे मानी जाएँगी, और इनमें पर्याप्त धन भी कहाँ से आएगा?

शिक्षा

अर्थ, काम धर्म-इन तीनों को साथ लेकर शिक्षा चलनी चाहिए। दो को भुला कर एक को ही सामने रखने से जीवन सम्पन्न नहीं बन सकता। धर्म-शिक्षा का होना अनिवार्य है पर वह ऐसी न हो जिससे भूखों मरने का समय आ जाय और धर्मशिक्षा के प्रति जनता में कुत्सा का भाव उत्पन्न हो जाय। धर्म, अन्याय आचरण का विरोध करता है, लेकिन गृहस्थों के लिए न्याययुक्त आचरण से धनोपार्जन का निषेध नहीं करता। इसी प्रकार काम भी अर्थ और धर्म का विरोधी न हो, तथा अर्थ, धर्म और काम में बाधक नहीं होना चाहिए।

शिक्षा का प्रचार

आप जितना खर्च विवाह-शादियों में करते हैं, उतना न करके-उसमें कमी करके वह रकम ज्ञान-प्रचार में, शिक्षा के विकास में लगावें तो कितना महत्वपूर्ण काम हो जाय? सुना है, सेठ जमनालालजी बजाज ने, जो लाखों की सम्पत्ति के अधिकारी थे, अपनी पुत्री का विवाह सिर्फ ५०) रुपये मे ही सम्पन्न कर दिया था। आप लोग विवाहों में कितना खर्च करते हैं? अगर आप विवाहों में अनावश्यक खर्च न करें और उसके बदले शिक्षण-संस्थाओं का पोषण करें, जिनके छात्र चारों ओर घूम कर धर्म-प्रचार करने के योग्य हों, तो संघ और धर्म का कितना लाभ हो सकता है? ऐसा करने से समाज अशिक्षित कहलाने के बजाय शिक्षित कहलाने लगेगा। किसी भी समाज के सभी लोग पूर्ण शिक्षित नहीं होते,

लेकिन थोड़े से लोग यदि उच्च श्रेणी के शिक्षित होते हैं तो उस समाज की लाज रह जाती है।

× × × ×

आज अक्षर-ज्ञान को अत्यधिक महत्व दिया जा रहा है और इसी कारण पुस्तकों के ढेर के ढेर पढ़ाये जाते हैं। पर प्रश्न यह है कि क्या मात्र अक्षरज्ञान जीवन को स्वाधीन एवं क्षमता-युक्त बनाने में समर्थ है? निरे अक्षरज्ञान से जीवन परावलम्बी बन रहा है, यह तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। जीवन की परतंत्रता का प्रधान कारण शिल्पकला की शिक्षा का अभाव है। जीवन को स्वतंत्र बनाने में शिल्पकला की शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकता है। और परतंत्रता के बंधनों से मुक्त करने वाली विद्या ही सच्ची विद्या है।'सा विद्या याविमुक्तये।'

जीवन परतंत्र न बनने पावे, इस उद्देश्य से नीतिकारों ने ७२ कलाओं के शिक्षण का विधान किया है। इन ७२ कलाओं में सभी कलाओं का समावेश हो जाता है। जो पुरुष ७२ कलाओं की शिक्षा पाया होगा वह क्या कभी पराया मुख ताकेगा? नहीं। वह स्वतंत्र-जीवी होगा। जो विद्या जीवन को परतंत्र बनाती है वह विद्या, वास्तव में विद्या ही नहीं है।

आजकल जिसे विद्या कहा जाता है वह विद्या प्राप्त करके भले ही थोड़े वकील या डाक्टर बन जावें, पर यह तो कदापि नहीं कहा जा सकता कि यह विद्या परतंत्रता के बन्धन काटने वाली और स्वतंत्रता का स्वाद चखाने वाली है। यही कारण है कि आज अक्षरज्ञान के साथ शिल्पशिक्षा की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। वास्तव में मानसिक शिक्षा के साथ शारीरिक-औद्योगिक शिक्षा की भी आवश्यकता रहती है। अक्षरात्मक शिक्षण के साथ शिल्पशिक्षा होने से सरलतापूर्वक जीवननिर्वाह हो सकता है और स्वतंत्रता के साथ जीवन-व्यवहार चलाया जा सकता है।

शिक्षक

समाज में शिक्षक का स्थान बहुत ऊँचा है। शरीर में मस्तिष्क का जो स्थान है, वही स्थान समाज में शिक्षक का है। शिक्षक विधाता है, निर्माता है। लेकिन खेद है कि आज शिक्षक की प्रतिष्ठा और पदमर्यादा कायम नहीं रही है। आज शिक्षक को नौकर समझा जाता है और शिक्षक स्वयमेव अपने को नौकर समझने लगे हैं।

पहले विद्या का विक्रय नहीं होता था, आज वह हो रहा है। इसी कारण विद्यार्थी को पढ़ने में और शिक्षक को पढ़ाने में प्रगाढ़ रुचि एवं प्रीति नहीं होती। इसका परिणाम यह आता है कि पठित विद्या यथायोग्य फलदायिनी नहीं होती।

विद्या ग्रहण करने के लिए विनय की और विद्यादान के लिए प्रेम की आवश्यकता है। विनय के विदून विद्या ग्रहण नहीं की जा सकती और प्रेम के विना वह दी नहीं जा सकती। आज न तो छात्रों में अध्यापकों के प्रति पर्याप्त विनय-भाव दृष्टिगोचर होता है, न अध्यापकों में छात्रों के प्रति प्रेमभाव ही पाया जाता है।

जो विद्यार्थी, शिक्षक की सेवा या विनय नहीं करता वरन् अवज्ञा करता है वह अपने भाग्य को दुर्भाग्य बनाता है।

गंदी पुस्तकें

शिक्षा का विषय स्वतंत्र है और उस पर यहाँ विस्तार-पूर्वक विवेचन नहीं किया जा सकता। अतएव शिक्षा-पद्धति की चर्चा न उठाते हुए विद्यार्थियों के हाथ में आने वाली पुस्तकों के संबन्ध में ही दो शब्द कहते हैं। विद्यार्थियों के हाथ में मन बहलाने के लिए प्रायः उपन्यास और नाटक आते हैं। किन्तु बहुत से उपन्यास और नाटक ऐसे क्षुद्र लेखकों द्वारा लिखे गये हैं जिन में कुत्सित भावनाओं को जागृत करने वाली सामग्री के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। जब कभी ऐसी पुस्तक अनजान में हमारे हाथ आजाती है तब उसे देख कर दिल दहलने लगता है, यह सोचकर कि ऐसी जघन्य पुस्तकें विद्यार्थी-समाज का कितना सत्यानाश करती होंगी? इन पुस्तकों के भावों को देखकर हृदय में संताप का पार नहीं रहता।

प्यारे विद्यार्थियो! अगर तुम अपना जीवन सफल और तेजोमय बनाना चाहते हो तो ऐसी पुस्तकों को कभी हाथ मत लगाना, अन्यथा वे तुम्हारा जीवन मिट्टी में मिला देंगी।

दूषित शिक्षा-पद्धति

अगर तुम अपने अनुभवी शिक्षकों से अपने लिए सत्साहित्य का चुनाव करा लोगे तो तुम्हारा बड़ा लाभ होगा। इससे तुम्हारे पथभ्रष्ट होने की

सम्भावना नहीं रहेगी। तुम्हारा मस्तक गंदगी का खजाना नहीं बन पायगा।

आज कल की शिक्षा की ओर जब दृष्टिपात करते हैं तब बड़ी निराशा होती है। आधुनिक शिक्षापद्धति खोखली नज़र आती है शिक्षा का ध्येय जीवन-निर्माण अथवा चरित्रगठन होना चाहिए। 'ज्ञानं भारः क्रियां विना।' अर्थात् चरित्रहीन ज्ञान जीवन का बोझ है। आज शिक्षा के नाम पर यही बोझ लादा जा रहा है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति इतनी दूषित हो गई है कि उसमें चरित्र का कोई स्थान ही नहीं प्रतीत होता। यही कारण है कि हमारे देश की दुर्दशा हो रही है।

११

राजप्रकरण

राजनीति

आज विश्व में जो राजनीति प्रचलित है उसका मुख्य आधार छल-कपट है। राजनीतिज्ञों की धारणा है कि बिना चालबाज़ी किये राजनीति में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। एक ओर सुलह-संधि की बातें की जाती हैं और दूसरी ओर हिंसात्मक आक्रमण की तैयारियाँ चालू रहती हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को भुलावे में रखकर, मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने की पुकार मचाता है और दूसरी ओर परिस्थिति अनुकूल होते ही उस पर हमला बोल देता है। तात्पर्य यह है कि इस समय की राजनीति, न्याय या प्रामाणिकता की सर्वथा उपेक्षा करती हुई मायाचार के जाल में जकड़ी हुई है। मगर इससे दुनिया में घोर अशांति है। कौन मित्र है और कौन शत्रु है, कौन किस समय क्या कर गुज़रेगा, इस बात का ठीक-ठीक पता न लगा सकने के कारण प्रत्येक राष्ट्र का और प्रत्येक राजनीतिक दल का, प्रत्येक क्षण नाना प्रकार के कपट-जाल के निर्माण में ही लग रहा है। कपट-जाल की उलझनें बढ़ती जा रही हैं और उनके बढ़ाने में घोर प्रतिस्पर्धा हो रही है। जो छल-कपट में जितना अधिक कुशल है वह राजनीति में उतना ही उस्ताद माना जाता है।

समग्र विश्व छल-नीति का शिकार हो रहा है। पारस्परिक अविश्वास की मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई है कि अगर कोई अन्तःकरण से सच्ची सद्भावना प्रदर्शित करता है तो उस पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। उसके विषय में भी यही सोचा जाता है कि न जाने किस गूढ़ अभिप्राय से वह ऐसी बातें कह रहा है? इस प्रकार सर्वत्र अविश्वास, सर्वत्र असंतोष और शंकाशीलता के साम्राज्य में कौन सुख की सांस ले सकता है?

इसके अतिरिक्त, जो कपटनीति से काम लेता है, उसकी विजय कभी न कभी पराजय के रूप में परिणत हुए बिना नहीं रह सकती। वह अपने कपट का आप ही शिकार बन जाता है। प्रायः देखा गया है कि जो समूह अपने विरोधियों के साथ छल-नीति का प्रयोग करता है, वह अन्त में आपस में एक दूसरे के साथ भी वैसा ही व्यवहार करके अपने समूह की शक्ति को नष्ट कर डालता है।

राष्ट्रों का आदर्श

कुटुम्ब का स्वामी जितना विकास चाहता है, उसकी अपेक्षा देश का राजा अधिक विकास चाहता है। इसी प्रकार कुटुम्ब के स्वामी की जय-विजय की अपेक्षा मनाने देश के स्वामी की जय विजय अधिक विस्तृत जय-विजय है। इस तरह कुटुम्ब के स्वामी की जय-विजय की अपेक्षा देश के अधिपति राजा की जय-विजय मनाना अधिक उदारतापूर्ण है; फिर भी राजा की जय-विजय भी विशुद्ध नहीं है-अपूर्ण है। राजा अपने विकास के लिए, अपने विजयलाभ के लिए दूसरों का विनाश भी चाहता है। वह दूसरे को हानि पहुँचाना चाहता है। अतएव एक राजा की विजय समष्टि की विजय नहीं है। जिस विजय का मूल्य, अन्य की पराजय है, वह केजय विशुद्ध विजय नहीं कहला

सकती। सच्ची विजय में किसी के पराजय की कामना नहीं हो सकती। वहाँ तो समष्टिगत कल्याण की चिन्ता की जाती है। अतएव किसी एक राष्ट्र का लाभ, जब वह अन्य राष्ट्र को हानि पहुँचा कर प्राप्त किया जाता है, तो अनर्थ का कारण बनता है। इससे राष्ट्रों में समष्टि की भावना नहीं उत्पन्न होने पाती। प्रत्येक राष्ट्र अपने आपको सुखी और समृद्ध बनाना चाहता है। जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का खून चूसकर स्वयं मोटा बनना चाहता है तो विश्व में शांति कैसे हो सकती है? आज यही अशुद्ध राष्ट्रीयता विश्व में विप्लव मचाए हुए है। राष्ट्रों में परस्पर जो प्रतिस्पर्धा चल रही है, एक दूसरे को अपना भोग बना लेने के लिए जो भगीरथ प्रयत्न कर रहा है, एक को निर्बल बनाकर दूसरा सबल बनता जा रहा है, सो क्या इससे जगत् सुख-शांति पा सकेगा? कदापि नहीं। यह प्रतिस्पर्धा और स्वार्थलिप्सा से दूषित राष्ट्रीयता ही राष्ट्रों के सत्यानाश का कारण बन जायगी। अतएव संसार के समग्र राष्ट्र जितनी जल्दी हो, इसका परित्याग करके शुद्ध राष्ट्रीयता की उपासना करेंगे तो शान्तिलाभ कर सकेंगे।

शुद्ध राष्ट्रीयता क्या वस्तु है? उसकी उपासना किस प्रकार होती है? इस संबन्ध में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस राष्ट्रीयता में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का सहायक और पूरक रहता है जिसमें प्रतिस्पर्धा के बदले पारस्परिक सहानुभूति की प्रधानता होती है, जहाँ विश्व-कल्याण के प्रयोजन से राष्ट्रीय नीति का निर्धारण होता है, वही शुद्ध राष्ट्रीयता है। जैसे शरीर का प्रत्येक अंग दूसरे अंग का पोषक है उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र विश्व-शरीर का पोषक होना चाहिए। इस नीति पर जगत् के राष्ट्र अमल करेंगे तभी शन्ति होगी। मानव समाज का, मेरे विचार से, यही सर्वश्रेष्ठ सामाजिक आदर्श है। यही समाजवाद का चरम रूप है। इसी से स्थायी शान्ति और बन्धुत्व-भावना की स्थापना की जा सकती है।

स्वदेशीय राजा

जो राजा अपने ही देश में जन्मता है, उसका अपनी प्रजा के साथ गाढ़ संबंध होता है। इसके विरुद्ध जो राजा दूसरे देश में जन्मा हो और किसी दूसरे देश पर शासन करता हो, उसका उस देश की प्रजा के साथ घनिष्ठ संबंध नहीं रहता। स्वदेशोत्पन्न राजा में अपनी प्रजा के प्रति जिस आत्मीयता की संभावना हो सकती है, वह विदेशी राजा में नहीं। जो राजा हजारों मील की दूरी पर उत्पन्न हुआ है, हजारों मील पर जिसका पालन-पोषण हुआ है, हजारों मील दूर निवास करता है, वह उस देश के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं हो सकता। ऐसे राजा द्वारा शासित देश की कैसी दुर्दशा होती है, यह समझ सकना कठिन नहीं है। भारतवर्ष इसका उदाहरण है।

राजा

प्रजा की रक्षा करने के कारण ही कोई राजा कहला सकता है। जो व्यक्ति

राजा हो करके भी गरीबों के धनप्राण का अपहरण करता है, गरीब प्रजा को सताता है वह कुशील है। कुशील राजा गरीब प्रजा की रक्षा करने के बदले उसे सताता है। जो लोग राजा को नमन करते हैं, उसे राजा मानते हैं, उन लोगों की रक्षा का भार उस पर आ जाता है। जो राजा अपने इस महान् उत्तरदायित्व की परवा नहीं करता वह राजा नहीं, लुटेरा है; वह राजभक्ति का पात्र नहीं हो सकता।

राजा प्रजा का कर्त्तव्य

प्रजा को बिगाड़ना राजनीति नहीं है। राजा वही कहलाता है जो प्रजा की सुव्यवस्था करे। जो राजा प्रजा की सुव्यवस्था नहीं करता और प्रजा को कुव्यसनों मे डालता है, जो अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए आबकारी जैसे प्रजा के स्वास्थ्य को नष्ट करने वाले विभाग स्थापित करता है, फिर भी प्रजा अगर चुपचाप बैठी रहती है तो समझना चाहिये वह प्रजा कायर है।

प्रजा के हित का नाश करने वाली बातें कानून के द्वारा न रोकने वाला राजा, राजा कहलाने योग्य नहीं है।

राजा-प्रजा का सम्बन्ध

राजा और प्रजा के मधुर सम्बन्ध के समय राजा प्रत्येक सम्भव उपाय से प्रजा की सुख-शांति के लिए, प्रजा के अभ्युदय के लिए चेष्टा करता था। वह प्रजा के सुख को ही राज्य की सफलता की कसौटी समझता था। उसके कार्यों का मुख्य और एक मात्र ध्येय होता था कि प्रजा किस प्रकार से अधिक सुखी, समृद्ध और सम्पन्न हो। प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य था। राजा जब इस प्रकार से बर्ताव करता था, प्रजा का अपने को सेवक समझता था, तब प्रजा भी सब प्रकार से राजा की सेवा के लिए तैयार रहती थी। आज यह सब बातें कहने-सुनने के लिए रह गई हैं। आज राजा स्वार्थान्ध होकर प्रजा को चूसना चाहता है, इसलिए प्रजा राजा का अन्त करने का उद्योग कर रही है। दोनों एक दूसरे के विरोधी बन गये हैं।

मातृभूमि की महिमा

अमेरिकन डाक्टर थॅार एक आध्यात्मिक विद्वान् था। एक बार वह अपने शिष्यों के साथ जङ्गल में गया। वहाँ उसके शिष्यों ने थॅार से पूछा—'स्वर्ग की भूमि अच्छी या यहाँ की भूमि?' थॅार ने उत्तर दिया—'जो भूमि तुम्हारा बोझ सहन कर रही है, जिस भूमि के उपादानों से तुम्हारे शरीर का निर्माण हुआ है, उसे अगर स्वर्ग की भूमि से हल्की समझते हो तो उस पर पैर धरने का भी तुम्हें अधिकार नहीं है।'

इस प्रकार जिस भूमि से तुम्हारा अपरिमित कल्याण हो रहा है, उसे तुच्छ मान कर स्वर्ग का गुणगान करते रहना एक प्रकार का व्यामोह ही है। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

भारत-द्रौपदी

यह भारत भूमि द्रौपदी है। इसका वैभव, इसकी उत्तमता आदि सभी बातें अवर्णनीय हैं। जिन्होंने देश-देश के प्राकृतिक सौन्दर्य आदि का अवलोकन किया है, उनका कथन है कि भारत के समान दूसरा देश नहीं है। दूसरे देशों में गङ्गा और यमुना सरीखी लाभदायक नदियाँ और हिमालय जैसे विशाल और गगन-चुम्बी पर्वत नहीं हैं। बड़े-बड़े महात्मा, ऋषि-मुनि, बड़े-बड़े दार्शनिक और बड़े-बड़े विद्वान् जैसे और जितने भारत में हुए हैं, वैसे अन्यत्र नहीं हुए। यह देश शस्त्र-बल से परास्त नहीं हो सकता था, इसलिए इस देश के वस्त्रों का अपहरण किया गया, जिससे वह पराजित हो जाय!

वस्त्र छीनने के लिए भारतीयों पर कैसे-कैसे अत्याचार किये गये हैं, यह इतिहास से प्रकट है। वस्त्रों का अपहरण करने के लिए भारतीय कारीगरों के अँगूठे कटवाये गये और उन्हें तरह-तरह से धोखा दिया गया। इस प्रकार के अनुचित और घृणित उपायों से यहाँ के वस्त्र छीने गये और जबर्दस्ती दूसरे देशों का कपड़ा यहाँ वालों के गले मढ़ा गया है।

इस प्रकार विदेशी 'दुःशासन' ने भारतभूमि रूपी द्रौपदी को नंगी करने के लिए अनेक उपाय किये। लेकिन यहाँ तपस्या का न जाने कितना और कैसा तेज है, जिसके प्रभाव से वह नग्न नहीं हो सकी।

बूढ़ा भारत!

बूढ़ा भारत गर्व के साथ कहता है—मैं आर्य प्रजा का जनक, पुरातन गौरव-गरिमा से मंडित देश हूँ। मुझे नङ्गा बनाने की विदेशियों ने कितनी ही चेष्टाएँ की हों, मेरे बृहत् भण्डार में से विदेशी कितनी ही सम्पत्ति क्यों न लूट ले गये हों, फिर भी मैं सदा के लिए दरिद्र और नङ्गा नहीं हुआ हूँ। केवल दस वर्ष तक ही अगर हमारे यहाँ की गौएँ न मारी जावें, मेरा कच्चा माल बाहर न भेजकर पक्का माल बाहर से न मँगाया जावे, तो फिर मैं वही सुवर्णकाल का भारत बन जाऊँगा! मैं शीघ्र ही संसार के समुन्नत से समुन्नत किसी भी देश की प्रतिस्पर्धा में बाजी मार लूँगा।

मातृभूमि का ऋण

आपने इसी भारत भूमि पर जन्म ग्रहण किया है। इसी भूमि पर आपने शैशव-क्रीड़ा की है। इसी भूमि के प्रताप से आप के शरीर का निर्माण हुआ है।

हंस ने मान सरोवर से जो कुछ प्राप्त किया है, उससे कहीं बहुत अधिक आपने अपनी जन्मभूमि से पाया है। अतएव हंस पर मान सरोवर का जितना ऋण है, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक ऋण आपके ऊपर अपनी जन्मभूमि का है। इस ऋण को आप किस प्रकार चुकाएँगे ?

आपका यह शरीर भारत में बना है या किसी विदेश में ?

'भारत में !'

फिर आपने भारत के क्या बदला चुकाया है ? विलायती वस्त्र पहन कर, विलायती सेंट लगा कर, विलायती वेशभूषा धारण करके और विलायती भावना को अपना कर ही क्या आप अपनी जन्मभूमि का ऋण चुकाना चाहते हैं ? ऐसा करके आप कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं ?

पराया कौर न खाओ

सुना जाता है कि भारतीयों की दैनिक आमदनी का औसत ~)॥। प्रति मनुष्य है। यदि प्रत्येक आदमी इतने ही में काम चला ले तब तो सब को बराबर भोजन आदि मिलता रह सकता है। अगर कोई आदमी ≡)॥ आना खा जाता है तो वह एक आदमी के भूखा मारता है या नहीं ? जो व्यक्ति इससे जितना ही अधिक भोजनादि का व्यय बढ़ाता है वह उतने ही अधिक आदमियों के भूखे मारने का दोषी सिद्ध होता है ! सुनते हैं हमारे यहाँ के अनेक रईस तो दे रुपया प्रतिदिन चुरुट और सिगरेट में ही फूँक देते हैं। भला यह कैसी व्यवस्था है ? जिस समाज में इतना वैषम्य भरा है वह समाज कब तक सुख-चैन से सो सकेगा ?

जीवित रहने के लिये खानेवाला विवेकी पुरुष ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता। उसे जीवननिर्वाह के लिए सादा और सात्विक भोजन चाहिए। उसकी पूर्ति वह अपने हिस्से की आमदनी से ही पूर्ण कर सकता है। इतने के लिये दूसरों के मुख का कौर छीनने की आवश्यकता नहीं है।

स्वतंत्रता

स्वतंत्रता तो सभी चाहते हैं किन्तु जो लोग आकाश में स्वैर विहार करने की तरह केवल लम्बे चौड़े भाषण ही करना जानते हैं, उनसे परतन्त्रता का जाल कट नहीं सकता। परतन्त्रता का ज़ाल तो जमीन के खोदने वाला किसान ही काट सकता है।

सत्याग्रह

सत्याग्रह के बल की तुलना, कोई बल नहीं कर सकता। इस बल के सामने, मनुष्य शक्ति तो क्या, किन्तु देवशक्ति भी हार मान जाती है। कामदेव श्रावक पर,

देवता ने अपनी सारी शक्ति का प्रयोग किया, लेकिन कामदेव ने अपनी रक्षा के लिए किसी अन्य शक्ति का आश्रय न लेकर, केवल सत्योपार्जित आत्म-बल से ही उस देवता की सारी शक्ति को परास्त कर दिया था।

प्रह्लाद के जीवन का इतिहास भी, सत्याग्रह का महत्त्वपूर्ण दृष्टान्त है। प्रह्लाद ने अपने पिता की अनुचित आज्ञा नहीं मानी। इसलिए उस पर कितने ही अत्याचार किये गये। लेकिन अन्त में सत्याग्रह के सामने अत्याचारी पिता को ही परास्त होना पड़ा। बहुत से लोग अत्याचार को मिटाने के लिए अत्याचार से ही काम लेते हैं। अत्याचार से अत्याचार चाहे एक बार मिटतासा दिखाई भी दे, परन्तु वास्तव में वह निर्मूल नहीं होता। समय पाकर वह मिटा हुआ अत्याचार भयंकर रूप से ज्वालामुखी की तरह फटकर बाहर निकल आता है, और उसकी लपटें प्रतिपक्षियों का नाश करने लिए पहले से भी ज्यादा उग्रता से लपलपाने लगती है। अतएव अत्याचार को अत्याचार से नाश करने का विचार निरर्थक है। अत्याचार से न तो अत्याचार ही भली प्रकार मिटता है, न संसार में शांति ही फैलती है। इसका वास्तविक उपाय तो सत्याग्रह ही है। क्योंकि सत्याग्रह में दूसरे के नाश का हेतु नहीं रहता, किन्तु उसे सुधारने का हेतु रहता है।

अत्याचार का प्रभाव, केवल शरीर पर ही पड़ा करता है, मन पर नहीं, और जब तक मन पर प्रभाव न पड़े, तब तक जिस कार्य के लिये अत्याचार किया जाता है, उस कार्य में पूर्णतया और स्थायी सफलता नहीं प्राप्त होती। लेकिन सत्याग्रह का प्रभाव, मन पर पड़ता है और मन सारे शरीर का राजा है। इसलिए सत्याग्रह द्वारा जो सफलता प्राप्त होती है, वह स्थायी और शांतिप्रद होती है।

सत्याग्रह एक महाशस्त्र है। इसका प्रयोग अत्याचार पर रामबाण सा अचूक होता है। लेकिन प्रयोग करने के पहले प्रयोग करने वाला, अपने दुर्गुणों को दूर करके, अपने पर ही सत्याग्रह का पूरा प्रयोग करले। इसमें विजयशाली होने पर उस का प्रभाव सब प्राणियों पर ही नहीं, किन्तु जड़ पदार्थों पर भी पड़ता है। सत्य-पुरुष के प्रभाव से, अग्नि शीतल हो जाती है, विष अमृत बन जाता है और अस्त्र-शस्त्र फूल से कोमल हो जाते हैं। जब इतना हो जाता है, तो क्रूर-प्राणियों की क्रूरता दूर होने में सन्देह ही क्या है? इसके विपरीत अर्थात् अपने दुर्गुणों को दूर किए बिना केवल दूसरों को दबाने के लिए जो सत्याग्रह किया जाता है, वह सत्याग्रह दुराग्रह हो जाता है, और स्वयं चलाने वाले का ही नाश कर देता है। एसे भी अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।

भगवान् महावीर ने, सत्याग्रह का प्रयोग पहले अपने ही ऊपर कर लिया था। इससे वे, चण्डकोशिक ऐसे विषधर सर्प के स्थान पर लोगों के मना करते हुए भी, निर्भयता पूर्वक चले गये। उस चण्डकोशी ने-जिसकी दृष्टि-मात्र से ही जीवों को मृत्यु का आलिंगन करना पड़ता था-भगवान् महावीर को अपने भयंकर विषैले दांतों से काटा भी, लेकिन सत्य के प्रताप से वह विष भगवान् की किंचित्-मात्र भी हानि न कर सका। उलटे चण्डकोशी की तामसी-प्रकृति भगवान् महावीर की सात्विक-प्रकृति से टकरा कर शान्त हो गई और भगवान् से बोध पाकर

वह कल्याण-मार्ग का पथिक बना।

असहयोग

जिस प्रकार धर्म-सिद्धान्त के लिए मनुष्य को असहयोग करना आवश्यक है उसी प्रकार लौकिक नीतिमय व्यवहारों में अगर राज्यशासन की ओर से अन्याय मिलता हो तो ऐसी दशा में राज्यभक्ति युक्त सविनय असहकार-असहयोग करना प्रजा का मुख्य धर्म है। वह प्रजा नपुंसक है जो चुपचाप अन्याय को सहन कर लेती है और उसके विरुद्ध चूँ तक नहीं करती। ऐसी प्रजा अपना ही नाश नहीं करती परन्तु उस राजा के नाश का भी हेतु बन जाती है जिसकी वह प्रजा है। जिस प्रजा में अन्याय के पूर्ण प्रतीकार का सामर्थ्य नहीं है उसे कम से कम इतना तो प्रकट कर ही देना चाहिए कि अमुक कानून या कार्य हमें हितकर नहीं है और हम उसे नापसंद करते हैं।

कानूनभंग

राजा के भय से अपकारक कानून को शिरोधार्य करना धर्म का अपमान करना है। धर्मवीर पुरुष राजा के अपकारक कानून को ही नहीं ठुकराता पर राजा और प्रजा के किसी भाग द्वारा भी अगर कोई ऐसा कानून बनाया गया हो तो उसे भी उखाड़ फेंकने की हिम्मत रखता है।

सत्याग्रह न करने से अनर्थ

अन्याय के प्रति असहयोग न करने से बड़ा भारी अनर्थ हो जाता है। इस कथन की पुष्टि के लिए महाभारत के युद्ध पर ही दृष्टि डालिए। अगर भीष्म और द्रोण आदि महारथियों ने कौरवों से असहयोग कर दिया होता तो इतना भीषण रक्तपात न होता और इस देश के अधःपतन का श्रीगणेश भी न होता। अन्याय से असहयोग न करने के कारण रक्त की नदियाँ बहीं और देश को इतनी भीषण क्षति पहुँची कि सदियां व्यतीत हो जाने पर भी वह संभल न सका।

भारतीयता

तुम भारत में जन्मे हो। तुममें भारत का क्षेत्रविपाकी गुण होना स्वाभाविक है। फिर भी तुम अपने रंग-ढंग, खानपान और पहनाव को देखो। तुम भारतीय हो पर भारतीय भाषा क्या तुम्हें प्यारी लगती है? अगर मातृभाषा तुम्हें प्रिय नहीं है तो इसे दुर्भाग्य के सिवाय और क्या कहा जाय? परदेशी लोग भारत की प्रशंसा करें और तुम भारतीय होकर भी भारत की अवहेलना करो, यह कुछ कम दुर्भाग्य की बात नहीं है।

आज भारतीय अनेक लुभावनी विदेशी वस्तुओं पर मुग्ध होकर भारत को-अपनी जन्मभूमि को भूल रहे हैं, वह यही नहीं देख पाते कि दरअसल वह वस्तुएँ कहाँ की हैं? उनका मूल उद्गम कहाँ है? तुम्हें अपने घर का ही पता नहीं है!

—:||:—

१२

दुर्व्यसन

१. मांसभक्षण।

२. मदिरापान।

३. तमाखू।

४. बीडी।

शास्त्र में मांसभक्षण की घोर निन्दा की गई है, यह किसे नहीं मालूम ? ऐसी स्थिति में मांसभक्षण के विरुद्ध शास्त्र के प्रमाण उपस्थित करने की आवश्यकता ही नहीं है।

मांसभक्षण उपयोगी है या नहीं, इस बात की परीक्षा अमेरिका में दस हजार विद्यार्थियों पर की गई थी। पाँच हजार विद्यार्थी शाक-फल-फूल आदि पर रक्खे गये और पाँच हजार मांस पर। छह महीने तक यह प्रयोग चालू रहा। इसके बाद जाँच की गई तो मालूम हुआ कि जो विद्यार्थी मांसाहार पर रक्खे गये थे उनकी अपेक्षा शाकाहारी विद्यार्थी सभी बातों में उत्तम रहे। शाकाहारियोंमें दया, क्षमा आदि मानवोचित गुण अधिक परिमाण में विकसित हुए। मांसाहारियों की अपेक्षा शाकाहारियों में बल अधिक पाया गया और उनका मानसिक विकास भी अच्छा हुआ। इस परीक्षा के फल को देखकर वहाँ के बहुत-से मनुष्यों ने मांस खाना छोड़ दिया।

गांधीजी एक बार विलायत के किसी नगर में, किसी के घर आमंत्रित किये गये। वहाँ उन्होंने देखा कि हिन्दुस्तानियों की अपेक्षा यूरोपियन अधिक संख्या में निरामिषभोजी थे।

अनार्य देश में आर्य देश के नियमों पर अमल किया जाय और आर्य देश में आर्य देश के निवासी ही अपने नियमों की अवहेलना करें, यह कितनी शोचनीय बात है !

मांसाहार मनुष्य के लिए स्वाभाविक है या अस्वाभाविक है ? इस बात की भी जाँच कर लेनी चाहिए। इस बात की जाँच पशुओं से सहज ही की जा सकती है। मनुष्य तो बौद्धिक विकास की उस सीमा को भी पार कर गया है, जहाँ स्वाभाविक और अस्वाभाविक का भेद ही नहीं रहता। उसने इस विवेक को तिलांजलि दे दी है। वह अस्वाभाविक को स्वाभाविक और स्वाभाविक को अस्वाभाविक मान बैठा है। बेईमानी और झूठ को सत्य का रूप देने में जितनी सफलता बुद्धिशाली वकील पा सकता है, उतनी सफलता पा सकना क्या साधारण बुद्धि वाले के बूते की बात है ? यह बुद्धि जब निरर्गल हो जाती है—हृदय और निसर्ग के नियमों के बन्धन से मुक्त हो जाती है तब बेलगाम घोड़े की तरह भागती फिरती है। उसे भले ही कोई संपदा समझे, पर वास्तव में वह विपदा है।

बेचारे पशु-पक्षी मनुष्यों की भाँति बुद्धि के धनी नहीं हैं। वे पढ़े-लिखे नहीं

हैं। इसलिए उनमें प्रकृति के नियमों को तोड़ने की हिम्मत नहीं है। इसी कारण प्रकृति के कानूनों की परीक्षा इन पर अच्छी तरह हो सकती है।

पशुओं में दो दल हैं-एक मांसाहारी, दूसरा शाकाहारी अर्थात् घास खाने वालों का दल। मांसाहारी दल के पशुओं के नाखून पैने होते हैं जैसे—कुत्ता, बिल्ली, सिंह, चीता आदि के। घास खाने वाले पशुओं में यह बात नहीं पायी जाती। उनके नाखून पैने नहीं होते, जैसे गाय, भैंस आदि के। शाकाहारीपशु मनुष्यों के मित्र होते हैं। जैसे गाय घास खाती है और दूध देती है। पर कुत्ता मांसभक्षी होने के कारण मनुष्यों की रोटी भी खाता है और काटने से भी नहीं चूकता। घास खाने वाले पशु शान्त होते हैं और मांस खाने वाले क्रूर होते हैं।

मांसाहारियों की दूसरी पहचान यह है कि उनके जबड़े लम्बे होते हैं, जब कि शाकाहारियों के गोल होते हैं। गाय और कुत्ते के जबड़े ध्यानपूर्वक देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

मांसाहारियों की तीसरी पहचान है—चप-चप करके पानी पीना। शाका-हारी होंठ टेककर पानी पीते हैं। गाय, भैंस, बन्दर और सिंह तथा कुत्ते को पानी पीते देखने से यह भेद भी स्पष्ट मालूम हो जायगा।

मांसाहारी और शाकाहारी जीवधारियों की जो परीक्षा बतलाई गई है उसके अनुसार मनुष्य निर्विवाद रूप से निरामिषभोजी ही ठहरता है। मनुष्य में मांस-भोजी प्राणियों के नहीं, अमांसभोजी प्राणियों के लक्षण पाये जाते हैं।

कई विद्वान् डाक्टरों ने सिद्ध कर दिखाया है कि घास खाने वाले, मांस खाने वाले और अन्न खाने वाले प्राणियों की आंते एक-सी नहीं होतीं। इन सब की आंतों में भिन्नता पाई जाती हैं।

बंदर के शरीर में मांस को पचाने वाली आंते नहीं है। इस कारण बन्दर कभी मांस नहीं खाता-फल पर वह टूट कर गिरता है। जरा विचार करो कि जो प्राणि-बन्दर सिर्फ मनुष्य की शक्ल का है, वह तो मांस नहीं खाता। वह अपनी आंतों को पहचानता है। पर मनुष्य कहलाने वाला प्राणी इतना विवेकहीन है कि वह मांस भक्षण कर लेता है।

अब पक्षियों की ओर देखिए। क्या आपने कबूतर को कभी कीड़े खाते देखा है? कभी नहीं देखा होगा। और कौवा? वह मांस खाता है। तो कबूतर

और कौवा को यह पाठ किसने पढ़ाया है ? प्रकृति ही उनकी पाठिका है।

तोता सिखाने से आपकी भाषा बोल सकता है। वह मांस नहीं खाता। तो जो पक्षी सिखाने से मनुष्य की भाषा बोलता है वह तो मांस खाता नहीं और स्वयं मनुष्य मांस भक्षण करे, यह कितने आश्चर्य की बात है !

अरे मनुष्य ! तू तकदीर लेकर आया है। तकदीर पर भरोसा रख और प्रकृति का कानून मत तोड़। क्या मांस न खाने वाले भूखों मरते हैं ? सचाई तो यह है कि मांसाहारी जितने भूख से मरते है, शाकहारी उतने नहीं। व्यवहार दृष्टि से शाकाहारी सब प्रकार सुखी और मांसाहारी दुखी दिखाई देते हैं।

भोजन-पान का शरीर और मन पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। सात्विक भोजन करने से सतोगुणमयी प्रकृति बन जाती है, राजस भोजन करने से रजोगुणमयी और तामस भोजन करने से तमोगुणमयी प्रकृति बनती है। खाने से पुण्य प्रकृति भी बन्धती है और पाप प्रकृति भी बन्धती है। अतएव भोजन के विषय में शान्त चित्त से, स्वच्छ हृदय से विचार करने की आवश्यकता है।

मदिरापान

शराब के कारण कई राजाओं का खून हुआ है और कई शराबियों ने, शराब के नशे में अपनी माँ बहिनों के साथ कु-कृत्य किया है, ऐसा सुनने में आया है। सच बात तो यह है कि शराब पीने से दिल पर ऐसा नीच असर होता है कि, भले बुरे का कुछ भी ध्यान नहीं रहता। यही क्यों, आप चुरुट को ही लीजिए। एक अंग्रेज़ को चुरुट पीने का बड़ा शौक था। एक दिन उसे चुरुट के जोर से खूब नशा चढ़ आया। उसकी औरत सोई हुई थी। छुरे से उसे उसने मारना चाहा, पर थोड़ी देर में नशा उतर जाने के बाद, इस विचार पर वह धिक्कार देने लगा। थोड़ी देर पीछे उसने फिर चुरुट पीया। इस बार उसने अपनी स्त्री को छुरे से मारने का कु-कृत्य कर ही डाला। चुरुट पीने से जब इतना पतन हो जाता है, तब शराब से कितना होना होगा, इसका विचार आप ही कीजिए। शराब पीने वालों के हाथ से हज़ारों खून हुए हैं !

जगत् का कोई भी धर्म, सम्प्रदाय या मत, जो किसी ऊँचे उद्देश्य से कायम हुआ है, मदिरापान का विधान या समर्थन नहीं कर सकता। जो वस्तु आगा

भुला देती है, जिसके सेवन से मनुष्य बेभान, पशु से भी बदतर और घृणास्पद बन जाता है, उसके सेवन का अनुमोदन कौन कर सकता है ? जिसके चंगुल में पड़कर मनुष्य अपने दोनों लोक बिगाड़ लेता है, निकृष्ट से निकृष्ट अवदशा को प्राप्त होता है, जिसके कारण भीषण से भीषण अपराध एव पाप करने में मनुष्य को संकोच नहीं रहता और जिसकी कृपा से साक्षर भी पूरा राक्षस बन जाता है, वह मदिरा मानवजाति के लिए घोर अभिशाप है, बुरी से बुरी बला है और दुरन्त दुर्भाग्य है। मदिरा पीने वाला मदिरा की बुराइयों को समझता हुआ भी उससे बच नहीं पाता। वह पिशाचिनी की तरह एक बार अपने अधीन करके मनुष्य का सत्व चूस लेती है। वह मनुष्य को हड्डियों का ढेर बना डालती है। जीवन को एकदम बर्बाद कर देती है। अब तक न जाने कितने होनहार नवयुवक मदिरा की बलि चढ़ गये हैं ! न मालूम कितनों ने अपनी कीमती जिंदगी मदिरा-पान करके बेकार बना डाली है। और यह सब प्रत्यक्ष हो रहा है। मदिरापान के दोष छिपे नहीं रहते। 'भूत वही जो सिर चढ़ बोले' इस कहावत के अनुसार मदिरा अपने दोषों को चिल्ला चिल्लाकर प्रकट करती है। फिर भी मनुष्य ऐसा मूर्ख प्राणी है कि सावचेत नहीं होता।

शराब पीने वालों को अपने हित-अहित का, भले-बुरे का तनिक भी भान नहीं रहता। न्याय-अन्याय और पाप-पुण्य के विचार शराब की बदबू में प्रवेश ही नहीं कर सकते। शराब पीने वालों के हाथ से हजारों खून हुए हैं। दुराचार और व्यभिचार तो उसका प्रत्यक्ष फल है। शराब में इतनी अधिक बुराइयाँ हैं कि कोई भी समझदार और विवेकशील पुरुष उनके विरुद्ध अपना मत नहीं दे सकता।

मदिरा के सब दोषों को जानकर अमेरिका जैसे अनार्य कहलाने वाले देश के निवासियों ने उसका बहिष्कार कर दिया। पर कितने आश्चर्य की बात है कि आर्य-भूमि भारतवर्ष में इसका प्रचार दिनों दिन बढ़ता जाता है। इसके उपासकों की संख्या बढ़ रही है। यह कैसी उल्टी गंगा बह रही है !

ओसवाल जाति ने मदिरा और मांस का त्याग किया है, पर सुना जाता है कि अब कई ओसवाल लुक-छिप कर इनका सेवन करने लगे हैं। ऐसे लोग अपनी जाति के घोर शत्रु हैं। जाति वालों की तरफ़ से उनके इस कृत्य का तिरस्कार होना चाहिए।

आज विशेषतया अछूत भाइयों में मदिरापान का दोष बढ़ा हुआ है और

बढ़ता जा रहा है। उनके इस दोष को दूर करने का प्रयत्न करो। लड़का मूर्ख रहे तो माँ-बाप का दोष माना जाता है।

हे अछूत भाइयो! इस बात का विचार करो कि शराब पीना स्वाभाविक है या अस्वाभाविक? शराब पीना स्वाभाविक होता तो सभी मनुष्य शराबी होते और शराब पिये बिना कोई जीवित न बचता। जिसके बिना जीवन-निर्वाह न हो सके वही वस्तु स्वाभाविक कहलाती है। पानी के बिना कोई मनुष्य जीवित नहीं रह सकता, अतः उसका पीना स्वाभाविक है। क्या शराब के विषय में भी यह बात कही जा सकती है? हम देखते हैं, शराब के बिना भी आज करोड़ों मनुष्य जीवित है, सुखी हैं। हम यह भी देखते हैं कि शराब पीने वालों की हालत बहुत बुरी होती है। शराब के कारण अनेक राजाओं तक का खून हुआ है। शराब ने कभी जोधपुर, बीकानेर और कोटा आदि के राजाओं एवं सरदारों के प्राण हरण किये हैं, ऐसा एक कवि ने अपनी कविता में बताया है। इसी कवि ने और भी बहुतेरे रईसों के नाम गिनाये हैं, जो शराब के शिकार हुए है। इस दुष्ट दारू ने न मालूम कितनों के कलेजे सड़ाये हैं। न जाने कितने दैवी प्रकृति वालों को राक्षसी प्रकृति वाला बना डाला है। कौन जाने कितने आबाद घर बर्बाद कर दिये हैं। दारू की बदौलत असंख्य मनुष्य अपने सुखमय जीवन से हाथ धोकर दुखों के पात्र बने हैं?

जिस घर में शराब पीने का रिवाज है, उस घर की दशा देखिए तो कलेजा काँपने लगेगा, उस घर के स्त्री बच्चे टुकड़े-टुकड़े के लिए हाय हाय करते हैं और घर मालिक शराब के चंगुल में ऐसा जकड़ जाता है कि उसका उस ओर लक्ष्य ही नहीं रहता। वह शराब के नशे में झूमता रहता है। उसे पता ही नहीं रहता कि शराब के दुष्परिणाम स्वरूप उसके धन का, उसकी शक्ति का, उसके सम्पूर्ण जीवन और परिवार का किस प्रकार सत्यानाश हो रहा है।

तमाखू

डॉक्टरों ने प्रयोग करके यह परिणाम निकाला है कि तमाखू में विष की मात्रा काफी परिमाण में होती है। एक जगह मैंने पढ़ा है कि एक बीड़ी की तमाखू का सत्व निकालकर सात मेंढकों को दिया जाय तो उन सातों की मृत्यु हो जायगी। तमाखू में जो विष होता है, डॉक्टरों ने उसे 'निकोटाइन' संज्ञा दी है।

वास्तव में तमाखू अत्यन्त हेय वस्तु है। उसमें मादक शक्ति है, विष है और इसीलिए वह बुद्धि तथा स्मरणशक्ति का विनाश करती है। उससे रक्त-विकार आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, जो जीवन को खतरे में डाल देते हैं। मैं जब विचार करता हूँ, तो मुझे आश्चर्य होता है कि तमाखू मे आखिर क्या आकर्षण है, जिससे आज दुनिया भर में उसका दौरदौरा हो रहा है! तमाखू में मिठास नहीं है कटुकता है। इंद्रियां उसे पहले पहल स्वीकार नहीं करना चाहतीं। मनुष्य जब तमाखू को भीतर ठूँसना चाहता है तब इन्द्रियां प्रबल विरोध करती हैं। छीक के द्वारा, खांसी के द्वारा या वचन के द्वारा अन्दर ठूँसी हुई तमाखू को इन्द्रियां बाहर फैंक देती हैं। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तमाखू शरीर के लिए अस्वाभाविक वस्तु है। फिर भी मनुष्य मानता नहीं और अपने ऊपर बलात्कार करके तमाखू का सेवन किया करता है। कुछ दिनों तक इन्द्रियां विरोध करके थक जाती हैं और मनुष्य तब स्वच्छन्द होकर शरीर में तमाखू का ज़हर घुसेड़ने लगता है। अन्त में शरीर तमाखू के विष से विषैला बन जाता है और तब लोग 'शरीरं व्याधिमंदिरं' अर्थात् शरीर रोगों का घर है, यह कहकर अपना रोना रोया करते हैं। कहते हैं आध सेर तमाखू में इतना विष होता है कि उससे मनुष्य की मृत्यु हो सकती है। मगर मनुष्य थोड़ी-थोड़ी करके सेवन करता है इसी से तत्काल इतना उग्र प्रभाव नहीं होता, फिर भी उससे भयंकर हानियाँ होती हैं। तमाखू ज्ञान-तंतुओं पर विनाशक प्रभाव डालती है। हृदय को दुर्बल बनाती है। मन को भ्रान्त करके स्मरणशक्ति की जड़ उखाड़ फेंकती है। यह एक नशीली वस्तु है। इसके नशे में अनेक बार घोर अनर्थ हो जाते हैं।

इस विषमयी तमाखू के खरीदने में भारतीयों का लाखों करोड़ों रुपया प्रति वर्ष विदेशों में चला जाता है। जरा अपनी विवेकशीलता का विचार तो करो! एक ओर करोड़ों आदमी भूख के मारे तड़फते हैं और दूसरी ओर करोड़ों रुपया तमाखू खरीदने के लिए विदेशों में भेज दिया जाता है। और उस रुपये के बदले में मिलता क्या है—भयंकर क्षति, भीषण विनाश, शरीरशोषण, बुद्धिभ्रंश आदि। इन सब सौगातों के लिए तुम्हारा धन व्यय होता है और वह धन गरीबों के हाथ का कौर छीन कर इकट्ठा किया जाता है! इस व्यवहार की कहाँ तक प्रशंसा की जाय? वैश्यों की वणिक् बुद्धि भी आज कहाँ चली गई है!

मित्रो! दूसरों पर दया नहीं कर सकते तो कम से कम अपने ऊपर तो करो। अपने पैर पर आप कुल्हाड़ा मत मारो। तमाखू जैसे निन्दनीय पदार्थों के

सेवन से बचने का प्रयास करो। अपनी वृत्ति को सात्विक बनाओगे तो जीवन का आदर्श तुम्हें सूझ पड़ेगा। उस समय तुम्हारा हृदय दया से द्रवीभूत होगा। वह दया तुम्हारा परम कल्याण करेगी। वह सच्ची दया जगत् को आनन्द का धाम बना सकती है। दिखावटी दया से काम नहीं चल सकता। अन्तःकरण को करुणामय बनाओ। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा और जगत् का भी कल्याण होगा।

बीड़ी

आजकल लोगों के जेब में बीड़ी सिगरेट और दियासलाई रहती है। कई लोग तो विस्तर पर पड़े-पड़े ही मुँह में बीड़ी डाले रहते हैं। बीड़ी-पान के पश्चात् ही उठते हैं।

प्रातःकाल ईश्वर-स्मरण का अपूर्व समय है। बुद्धिमान् पुरुष यह अमूल्य समय बीड़ी की धुँआधार में नष्ट नहीं करता। पर जिनके लिए बीड़ी ईश्वर से बड़ी चीज़ है उनकी बात निराली है!

आप लोग विश्व का कल्याण चाहने वाले हैं। तब अपनी मातृभूमि-भारत का बुरा कैसे चाहेंगे? भारत का बुरा चाहने वाला भारतीय सपूत नहीं कहला सकता। सचमुच भारत की भलाई-बुराई में अपनी भलाई-बुराई है। भारत का सुख-दुःख अपना ही सुख-दुःख है। अतएव प्रत्येक भारतीय को भारत के सुख-दुःख का खयाल रखना होगा। जिस कार्य से भारत का अकल्याण होता है उसे त्याग देना भारतीय का प्रथम कर्त्तव्य है।

बीड़ी से देश के धन का कितना नाश होता है, जरा हिसाब लगा कर देखिए। भारत की जनसंख्या चालीस करोड़ है। इसमें करीब आधी संख्या स्त्रियों की अलग निकाल दीजिए। क्योंकि वह प्रायः बीड़ी नहीं पीतीं। बचे हुए बीस करोड़ मनुष्यों में दस करोड़ को और कम कर दीजिए। इसमे बालक आदि गिन लीजिए। शेष दस करोड़ पुरुष रहे। इनमें कई-एक तो ऐसे हैं जिनका बीड़ी-खर्च तीस रुपया मासिक है। छह आने प्रतिदिन खर्च करने वाले एक भाई ने मेरे समक्ष बीड़ी का त्याग किया है। पर सामान्य रूप से दो रुपया मासिक औसत बीड़ी-खर्च समझ लिया जाय तो दस करोड़ मनुष्यों का प्रतिमास बीड़ी का खर्च

बीस करोड़ रुपया होता है। एक वर्ष में यही खर्च दो अरब और चालीस करोड़ हो जाता है। इसे हँस कर मत टालिये। जरा ध्यान दीजिए। यह हँसने का नहीं, हृदय को चीर डालने वाला हिसाब है। दो अरब, चालीस करोड़ रुपये किसे कहते हैं? क्या यह उपेक्षणीय धनराशि है? जिस देश में छह करोड़ मनुष्यों को पेट भर अन्न नहीं मिलता वहाँ इतनी बड़ी रकम क्या साधारण गिनी जा सकती है?

छोटी-छोटी रकम पर डकैती डालने वालों को सरकार पकड़ती है और सजा देती है। पर इतनी विशाल धनराशि धुआँ होकर उड़ जाती है, इस ओर उसका ध्यान क्यों नहीं जाता?

यह व्यसन देश रूपी वृक्ष को उदेई लगने के समान है। अगर इसका उचित उपाय न किया गया तो देश रसातल में चला जायगा।

कई लोग कहा करते हैं—साहब, अकेला चना क्या भाड़ फोड़ सकता है? मेरे अकेले के किये क्या हो सकता है? अगर मैंने बीड़ी पीना छोड़ भी दिया तो कौन-सा देश का भारी उपकार हो जायगा?

यह खयाल गलत है या अपनी दुर्बलता को दबाने का बहाना है। अकेला सूर्य सारे देश को प्रकाशित करने में समर्थ होता है।

जो जिस व्यसन के वशीभूत होता है वह उसका निषेध नहीं कर सकता। यही नहीं वरन वह अपनी मण्डली बढ़ाने की फिक्र में रहता है। अगर आज एक आदमी भी बीड़ी पीना छोड़ देता है तो वह दूसरों से भी छुड़ा सकता है।

मैंने सुना है, एक बीड़ी में जितनी तमाखू होती है, उतनी तमाखू का सत्त्व निकाल कर सात मेंढकों को खिलाया जाय तो उनकी मृत्यु हो जाती है। जब एक बीड़ी में इतना विष है तो आप दिन भर में न जाने कितनी बीड़ियां पीते हैं और कितना विष अपने उदर में भरते हैं! यह विष आपकी जीवनी-शक्ति को, आंखों के तेज को और आपके बुद्धिबल को कितनी क्षति पहुँचाता है? एक बार इस बात पर विचार कर देखिए।

बीड़ी पीने वालों की पाचनशक्ति मंद पड़ जाती है। अन्न पर उन्हें रुचि नहीं रहती। अन्न पर अरुचि होने से मसालेदार शाकों की, चटनियों की ओर

नाना प्रकार के व्यंजनों की आवश्यकता होती है, जिससे रुचि जागृत हो जाय। इसके फलस्वरूप कितने ही नये-नये रोग आते हैं और स्वास्थ्य का अपहरण करते हैं।

बीड़ी पीने वालों का नैसर्गिक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। रक्त उनका दूषित हो जाता है। दाँत काले पड़ जाते हैं। मुँह से बदबू इतनी निकलती है कि दूसरे से पास बैठा नहीं जाता। हाथ से भी दुर्गन्ध आने लगती है। यह सब दोष प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। फिर भी आश्चर्य है कि लोग बीड़ी के कीड़े बने रहने में ही आनन्द मान रहे हैं।

कई लोग कहा करते हैं—'हमें दस्त साफ़ नहीं होता, कब्जी रहती है। अतएव लाचारी से बीड़ी पीनी पड़ती है।' मगर यह भी मिथ्या संस्कार है। स्त्रियों को यह बीमारी क्यों नहीं होती? उनका काम कैसे चलता है? उन्हें बीड़ी की आवश्यकता नहीं होती और तुम्हें होती है, इसका क्या कारण है?
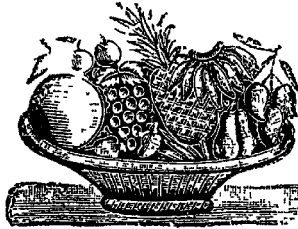
१३

गोपालन और कृषि

गोपालन

शास्त्र में लिखा है कि प्राचीन काल में एक करोड़ मोहरों का स्वामी एक गोकुल अर्थात् दस हजार गायों का पालन करता था। जिसके पास जितने करोड़ स्वर्ण-मोहरें होती, वह उतने ही गोकुल रखता था। जिस समय भारत में गौओं का ऐसा मान था, उस समय का भारत वैभवशाली क्यों न होता? गौ ऋद्धि-सिद्धि देने वाली मानी गई है। जहाँ ऋद्धि-सिद्धि देने वाली हो वहाँ वैभव की क्या कमी?

श्रीकृष्ण मूर्ख नहीं थे। दरिद्र नहीं थे। फिर उन्होंने गौएँ क्यों चराईं? उनके गायें चराने का मर्म समझने की चिन्ता किसे है? एक कवि ने कहा है कि गोवंश की रक्षा के लिए ही कृष्ण ने अवतार धारण किया था। हाथ में लकड़ी लेकर गौओं के साथ श्रीकृष्ण का जंगल में जाना कितना मार्मिक व्यापार है? पींजरापोल या गोशाला खोली जाती हैं और चन्दा उघाकर उनका निर्वाह किया जाता है। यह उपाय कहाँ तक कारगर होगा? इस प्रणाली से कब तक काम चलेगा? गोरक्षा का असली और बुनियादी उपाय श्रीकृष्ण ने बतलाया है। वही सच्चा और ठोस उपाय है।

आज लोगों को गोरक्षा के प्रति उपेक्षा हो गई है। इसी कारण ऋद्धि-सिद्धि देने वाली गौ भार रूप प्रतीत होती है। इस समय गोधन पर जितना संकट आ पड़ा है उतना पहले कभी नहीं आया था।

जैनशास्त्रों में गौ को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। वेदों और पुराणों में भी गौ का अत्यधिक सन्मान पाया जाता है। ब्राह्मण लोग गायत्री मंत्र का जाप गोमुखी में हाथ डालकर करते हैं। पर इन सब बातों का रहस्य जानने वाले कितने मिलेंगे?

ऊपर कहा जा चुका है कि गौ ऋद्धि-सिद्धि देने वाली है। महँगाई में भी क्या यह कथन सत्य साबित होता है, इस पर जरा विचार कीजिए। मान लीजिए, एक अच्छी दुधारू गाय अभी सौ रुपये में मिलती है। आप यह सौ रुपया गाय-खाते नाम लिख देंगे। गाय अक्सर दस महीना दूध देती है। इस समय में आप उस पर दो सौ रुपया खर्च करेंगे। तो वह भी उसके खाते लिख लीजिए।

सौ रुपये की अच्छी गाय प्रातःकाल और सायंकाल चार-चार सेर दूध कम से कम देगी। बाजार में अच्छा दूध चार सेर का बिकता हो तो दस महीने में कितने का दूध आपको मिलेगा? छह सौ रुपये का दूध आप प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् तीन सौ रुपया खर्च करके आप छह सौ रुपया प्राप्त कर लेते हैं।

दस मास के पश्चात् गाय दूध देना बन्द कर देगी, फिर भी उस पर कुछ

खर्च करना होगा; मगर उसके बदले उसके वंश की वृद्धि भी होगी। इसके अतिरिक्त जिनके यहाँ खेती होती है, उन्हें खर्च और भी कम पड़ता है। इस प्रकार महँगाई के ज़माने में भी गाय आर्थिक दृष्टि से लाभदायक है, कम से कम हानिकर तो नहीं ही है। गाय का गोबर ईंधन के काम आता है। गाय का मूत्र वातावरण को ऐसा विशुद्ध रखता है कि उसके प्रभाव से अनेक बीमारियाँ नहीं उत्पन्न होतीं। गोमूत्र के गुण कस्तूरी से भी अधिक माने जाते हैं।

गौ

प्राचीन ग्रंथों में गाय की महत्ता का खूब बखान किया गया है। गाय 'गो' कहलाती है। 'गो' पृथ्वी का भी नाम है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे पृथ्वी हमारा आधार है उसी प्रकार गाय भी हमारे जीवन का आधार है। इसी लिये कृष्ण ने गो-रक्षा की थी। कृष्ण ने अपने व्यवहार के द्वारा गाय का जैसा महत्त्व प्रदर्शित किया है वैसा विश्व के इतिहास में प्रदर्शित नहीं किया गया। आज गाय का आदर नहीं हो रहा है, पर प्राचीन काल के राजा और सेठ अपने अपने घर में गायों के झुंड के झुंड रखते थे। उस समय शायद ही ऐसा कोई घर रहा होगा, जहाँ गाय न पाली जाती हो। उसी युग में गाय गोमाता कहलाती थी और 'जय गोपाल' की ध्वनि सर्वत्र सुनाई देती थी—अर्थात् गाय पालने वाले की जय बोली जाती थी। मगर आज परम्परा का पालन करने के लिए गाय को कोई माता भले ही कह दे, पर उसका पालन विपत्ति से कम नहीं समझा जाता। लोग गोवंश के ह्रास का कलंक मुसलमानों के मत्थे मढ़ते हैं पर मेरी समझ में हिन्दु लोग अगर गाय को माँ समझ कर घर में आदर के साथ स्थान देते तो गोवंश का ह्रास न होता और न कोई उसे मार ही सकता। हिन्दुओं ने गाय की रक्षा नहीं की इसी से गोवंश नष्ट होता जाता है। यही नहीं, मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि हिन्दु लोग भी किसी न किसी रूप में गोवंश के विनाश में सहायक हो रहे हैं। उदाहरण के लिए—वस्त्रों को लीजिए। गाय की चर्बी वाले वस्त्र बड़े शौक से पहने जाते हैं। क्या गाय की हत्या किए बिना चर्बी निकाली जाती है? चर्बी के लिए बड़ी क्रूरता से गायों को क़त्ल किया जाता है और उन्हीं चर्बी वाले वस्त्रों को पहन कर लोग कहते हैं—'हम गोभक्त' हैं—गाय हमारी माता है!' धन्य है ऐसे मातृ-भक्त सपूतों को!

पर यह समझ बैठना कि इससे गायों की ही हानि हुई है, गलत है। इस पद्धति से जहां गोवंश को हानि पहुँची है वहां मानववंश को भी काफी हानि उठानी पड़ी है और पड़ रही है। दूध मर्त्यलोक का अमृत कहलाता है। उसकी आजकल बेहद कमी हो गई है। परिणाम यह है कि लोगों में निर्बलता और निर्बलताजन्य हजारों रोग आ घुसे हैं। इसके अतिरिक्त तामसिक भोजन पेट में जाता है, जिससे सतोगुण का नाश होता जा रहा है।

गोरक्षा

प्रत्येक हिन्दू गौ को 'गोमाता' के नाम से पुकारता है और उसे श्रद्धाभाव से देखता है। फिर भी उसकी पालना जैसी चाहिए वैसी नहीं हो रही है। मानव-समाज पर गाय के अपरिमित उपकार हैं। उसके उपकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए उसे 'गोमाता' संज्ञा दी गई है। इस संज्ञा को सार्थक बनाने के लिए, उसके प्रति आज जो उपेक्षा दिखाई जा रही है उसका दूर होना आवश्यक है। अमेरिका में भारत की गाय से १८० रतल दूध प्राप्त किया जा रहा है। अमेरिका ने गाय की सेवा करके सचमुच उसके 'माता' विशेषण को सार्थक किया है। अमेरिका के विद्वानों ने बड़े-बड़े निबन्ध लिख कर बतलाया है कि गाय प्रत्येक दृष्टि से रक्षणीय है। पर गाय को माता कहकर पूजने वाले हिन्दुस्तान में गाय की क्या दुर्दशा हो रही है? उस पर खचाखच छुरियाँ चल रही हैं। यह कितनी लज्जा की बात है?

खेती

भगवान् ऋषभदेव अपने हाथ से हल न चलाते तो आप हल चलाने को नीच कार्य समझते और कहते कि अगर हल चलाना निंद्य कार्य न होता तो भगवान् हल क्यों न चलाते? मगर भगवान् ने हल चला कर इस प्रकार के तर्क-वितर्क की जड़ ही उखाड़ फैंकी है।

कुछ लोग अज्ञानवश खेती को अनार्य धंधा कहते हैं। परन्तु यदि प्रज्ञापना सूत्र को निकाल कर देखा जाय तो विदित होगा कि खेती अनार्य धन्धा नहीं है, वरन् आर्य धन्धा है। अगर इसे अनार्य धन्धा ठहराया जायगा तो लोगों का जीवित रहना कठिन हो जायगा।

भलीभाँति वस्तुतत्त्व को समझे विना, खेती को आर्य-धन्धा या अनार्य-धंधा ठहरा देना न्याययुक्त नहीं है। आप खेती नहीं करते, इस कारण खेती करने को आप अनार्य कर्म मान बैठते हैं। इससे विपरीत वास्तव में जो अनार्य कर्म है और जिसे आप करते हैं उसे आर्य कर्म बतला देते हैं। आप अनार्य कार्य करते हुए भी आर्य बने रहते हैं और कृषकों को बिना समझे-बूझे अनार्य ठहरा देते हैं। क्या यह न्याय है? नहीं।

कृषि

लोगों ने कृषि कर्म को महापाप और खेती करने वाले को महापापी मान लिया है। पर खेती से उत्पन्न होने वाले अन्न को खाने में भी पाप मान लिया जाय तो कैसी विडंबना खड़ी होगी! लोग असत्य भाषण, मायाचार, धोखा, और जूआ खेलने में अल्पारंभ मानते हैं और खेती करने में महा पाप मानते संकोच नहीं

करते। यह उनकी गंभीर भूल है। खेती में होने वाला आरंभ, आरंभ तो है ही, पर सट्टा-फाटका कूड़-कपट जितना पाप उसमें नहीं है। अगर किसान के हृदय के साथ व्यापारी के हृदय की तुलना करो तो तुम्हें ज्ञात होगा कि अल्प पापी कौन है और महा पापी कौन है? व्यापारी व्यापार में छल-कपट का आश्रय लेता है पर किसान तो केवल प्रकृति का ही आश्रय लेता है। प्राकृतिक वर्षा हो तो वह अपना जीवन धन्य मानते हैं। वर्षा न हो तो दुःख का अनुभव करते हैं।

खेती का महत्व

आप लोग हल हाँकने वाले को हितकारक की निगाह से देखेंगे तो फिर भगवान् ऋषभदेव को भी हिकारत की दृष्टि से देखना पड़ेगा। इस युग में सर्व-प्रथम उन्होंने ही हल हाँका था। जब कल्पवृक्षों से आजीविका का निर्वाह होना संभव न रहा और मनुष्य कोई भी कला नहीं जानते थे, उस समय अगर उन्होंने हल चला कर आजीविका की समस्या हल न की होती तो मनुष्यों की क्या दशा होती? भगवान् अनन्त शक्ति के धनी थे। उन्हें जादू के खेल की तरह के कई खेल करते भी आते होंगे। अगर भगवान् उस समय इस तरह के खेल करते तो कदाचित् उस समय काम चलजाता, परन्तु आज भी क्या उसी खेल से आपका निर्वाह हो जाता?

नहीं!'

भगवान् ने जादू सरीखा खेल करके तत्कालीन मानव-प्रजा का दुःख दूर नहीं किया। उन्होंने पुरुषार्थ करने का उपाय बताया और स्वयं हाथ में हल पकड़ कर जनता को समझाया—'देखो, यह भूमि रत्नगर्भा है। इसमें से रत्न निकालते रहो। उनका कभी अन्त न आएगा।

चर्खा

चर्खा भारतवर्ष का सुदर्शन चक्र है। इसके द्वारा भारत का बहुत कुछ उत्थान होना संभव है। इस समय आपके समाज में चर्खे का प्रवेश नई घटना है। कौन जानता है दैवी शक्ति क्या कार्य करना चाहती है? पर इसमें जरा भी संदेह नहीं कि समाज में चर्खे का प्रवेश होना शुभ लक्षण है। जब से भारत ने चर्खा छोड़ा या उसे छोड़ना पड़ा, तभी से वह पराधीन है। एक दिन भारत में

यह शक्ति थी कि वह विदेशों को भी कपड़ा दिया करता था। आज वही अपना तन ढँकने के लिए पराया मुँह ताकता है।

आप इस देश को अपनी मातृभूमि मानते हैं? अगर यह आपकी मातृभूमि है तो इसके प्रति आपका जो कर्त्तव्य एवं दायित्व है, वह आपको समझना चाहिए। अपने कर्त्तव्य का पालन किये बिना आप अपनी मातृभूमि के ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। अपना कर्त्तव्य न समझने का फल यह हुआ है कि भारत के करोड़ों मनुष्यों को पेट भर अन्न नहीं मिलता, पर प्रति वर्ष साठ करोड़ रुपयों का कपड़ा विदेश से आता है और विलास की अग्नि में स्वाहा कर दिया जाता है। मातृभूमि के प्रति कर्त्तव्य निर्धारित करना गृहस्थ के लिए ही नहीं, साधु के लिए भी आवश्यक है। मातृभूमि गृहस्थ और साधु—दोनों के लिए है।

भारत के कपड़े न पहनकर, विदेशी वस्त्र पहनना, मातृभूमि का द्रोह करना है। क्या कोई माता का द्रोही बनना पसंद करेगा? क्या दयाधर्मी कहलाने वाला कोई भी पुरुष असंख्य प्राणियों के निर्दय घात से तैयार होने वाले कपड़े पहनना पुण्य—कार्य समझ सकता है? पैर से एक चिउँटी मर जाने पर जिसकी आत्मा काँप उठती है, वही धर्मात्मा हजारों प्राणियों के घात से तैयार होने वाले वस्त्रों को, परोक्ष की बात कह कर, निस्संकोच धारण कर सकता है? जिस गाय को हिन्दू माता मानते हैं और जो वास्तव में ही न केवल हिन्दुओं की वरन् समस्त संसार की माता के समान है, उसकी चर्बी भी इन कपड़ों में लगाई जाती है। ऐसे कपड़े पहनने में भी जिन्हें घृणा नहीं आती उन्हें क्या कहा जाय?

याद रखिए, यह भारतभूमि भगवान् ऋषभ की भूमि है। ऋषभदेव ने इसी भूमि पर, जब सारा संसार घोर अंधकार में डूबा हुआ था, सर्व प्रथम कला कौशल की स्थापना की थी। मगर उस कलाकौशल में प्राणीघात को स्थान न था। वस्त्रों की ही बात लीजिए। आधुनिक मिलों की बदौलत जितने पंचेन्द्रिय पशुओं का घात होता है, क्या इतना ऋषभदेव द्वारा प्रवर्त्तित चर्खे से भी होता है!

यह सत्य सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट होने पर भी लोगों की समझ में क्यों नहीं आता? वह चर्खे का महत्व क्यों नहीं समझते? इसका कारण धार्मिक भावना का जीवन में ओतप्रोत न होना ही है।

जिस वस्त्र की बदौलत भारत के निर्धनों को फाँसी दी जा रही है—उन्हें भूखों मारा जा रहा है उनकी रोटी छीनी जा रही है, उस वस्त्र को पहनना क्या उचित

हो सकता है? अगर आपको धर्म पर सच्चा विश्वास हो तो धर्मगुरु का मना किया हुआ काम आप कदापि न करेंगे। अलबत्ता, धर्मगुरु बनाते समय आप गहरा सोच-विचार कर ले और देख लें कि जिसे आप अपना धर्मगुरु बना रहे हैं उसमें वैसी योग्यता है या नहीं है। जिसे समझ-बूझकर आपने गुरु बना लिया हो वह अगर आपको कुपथ में जाने से रोकता है, तो आपको मानना चाहिए। यदि आप अपने ही रास्ते पर चलते हैं तो गुरु बनाने का क्या प्रयोजन रहा? गुरु से आपने क्या लाभ उठाया?

वस्त्र

तुम लोग शरीर की चमड़ी को बड़ी मानते हो या वस्त्रों को बड़ा मानते हो? अनेक विशिष्ट गुणों वाली चमड़ी को भूलकर जो लोग वस्त्रों के प्रलोभन में पड़ जाते हैं वे ठूँस-ठूँस कर वस्त्र पहनने से चमड़ी को पहुँचने वाली हानि की ओर ध्यान नहीं देते। वास्तव में वस्त्र लज्जा की रक्षा के लिए थे और हैं: परन्तु लोगों ने उन्हें शृंगार की वस्तु बना लिया। शीत न होने पर भी इतने अधिक वस्त्र शरीर पर लादे जाते हैं कि बेचारी चमड़ी की दुर्दशा हो जाती है। लोग झूठे बड़प्पन के लोभ में फँसकर अनावश्यक वस्त्र पहनते हैं। पसीना होता है और भीतर ही भीतर सूखता रहता है। परिणाम यह आता है कि चमड़ी के विशिष्ट गुण नष्ट हो जाते हैं और संतान दिनोंदिन निर्बलता का शिकार बनती जाती है।

अल्पपाप-महापाप

आज कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विषय में बड़ी उल्टी समझ हो रही है। लोगों ने न जाने किस प्रकार अपनी कुछ धारणाएँ बना ली हैं। बाजार से घी लाने में पुण्य है और घर पर गाय का पालन करके घी उत्पन्न करने में पाप है, ऐसा कई लोग समझते हैं। मगर विचारणीय यह है कि बाजार का घी क्या आकाश से टपक पड़ा है? बाजार का घी खरीदने से कितने जानवरों की हिंसा का भागी होना पड़ता है, इस बात पर आपने कभी विचार किया है?

यह सभी जानते हैं कि एक रुपये का जितना विदेशी घी आता है उसने देशी घी के लिए दो रुपये लगते हैं। पर विदेशी घी में किन-किन वस्तुओं की मिलावट होती है, वह स्वास्थ्य को किस प्रकार बिगाड़ता है, इस बात का भलीभांति विचार किया जाय तो नफे-टोटे की बात मालूम हो जायगी।

जिस देश वाले भारतवर्ष से हजारों मन मक्खन ले जाते हैं, लाखों मन गेहूँ ले जाते हैं, वही लोग जब आधी कीमत पर वही वस्तुएँ लाकर हमें देते हैं तो समझना चाहिए कि इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। क्या वे दीवालिया बनने के लिए व्यापार करते हैं ?

घर पर उत्पन्न हुए घी से बाजार के घी में अधिक पाप क्यों है, इस प्रश्न पर ऊपरी दृष्टि से विचार मत कीजिए। आप उस शास्त्र पर नज़र रखते हुए विचार कीजिए जो धनुष-बाण बनाने में घोर आरंभ-समारंभ का होना बतलाता है। विदेशी घी तैयार करने के लिए कितने बड़े-बड़े कारखाने खड़े किये जाते हैं और उसके लिए कितने पशुओं का वध किया जाता है, इस बात का जब आपको पूरा पता लग जायगा तब सहज ही आप जान सकेंगे कि थोड़ा पाप किसमें है और अधिक पाप किसमें है ?

बहुत-से भाई कहते हैं कि मैं गायें पालने का उपदेश देता हूँ। वह कहते हैं—महाराज गायें पलवाते हैं; पर मैं क्या उपदेश देता हूँ, क्या कहता हूँ और किस आधार से कहता हूँ: इस बात को समझने का वह कष्ट नहीं उठाते। उन्हें कौन समझाए कि साधु का कर्त्तव्य जुदा है और गृहस्थ का धर्म जुदा है। दोनों की परिस्थितियाँ इतनी अधिक भिन्न हैं कि उनका कर्त्तव्य एक नहीं हो सकता। साधु कभी सावद्य भाषा का प्रयोग नहीं करता।

शास्त्र में प्रतिपादित कर्त्तव्य क्या है और आधुनिक श्राविकाएँ उसे किस रूप में समझती हैं, इस बात का विचार करने से आश्चर्य होने लगता है। कोई-कोई श्राविका चक्की न चलाने की प्रतिज्ञा लेती है। वह समझती है—'चक्की नहीं चलाऊँगी तो पाप से बच जाऊँगी।' मगर उसे यह विचार नहीं आता कि आटा तो खाना ही पड़ेगा, फिर वह पाप से कैसे बच जायगी ?

मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि मशीन से आटा पिसवाने की अपेक्षा हाथ से पीस कर खाने में कम पाप होता है। इसका कारण यह है कि हाथ से पीसने में यतना रक्खी जा सकती है। पीसते समय गेहूँ आदि में कोई जीव-जंतु गिर जाय तो उसे बचाया जा सकता है। चक्की के पाटों के बीच छिपे हुए जीवों की रक्षा की जा सकती है। हाथ से इतना अधिक आटा नहीं पीसा जाता कि उसका बहुत अधिक संग्रह हो जाय। इसलिए हाथ का आटा प्रायः ताज़ा रहता है और जीव-जन्तु उतने नहीं पड़ सकते जितने एक साथ बहुत से पिसाए हुए मशीन के आटे

में पड़ जाते हैं। इसके विरुद्ध, मशीन में आटा पिसवाने से हर तरह अधिक पाप होता है। गेहूँ आदि में रहे हुए त्रसजीवों की रक्षा नहीं हो सकती, चक्की में छिपे हुए जीवों की रक्षा नहीं हो सकती और एक साथ बहुत पिसने के कारण अधिक दिनों तक रहने से आटे में अनेक जीव पड़ जाते हैं। इसमें जीवहिंसा तो होती ही है; साथ ही ऐसा आटा खाने वाले अपना स्वास्थ्य खराब कर बैठते हैं। और कभी कभी प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं। यह सब पाप किसके सिर है? इस पाप का उत्तरदायित्व अविवेक के कारण चक्की न चलाने की प्रतिज्ञा करने वाली बाई पर पड़ता है। परन्तु इतना विचार करे कौन? इतनी परवाह किसे है? अगर परि-श्रम का त्याग करने से धर्म की आराधना होती है तो इतना सस्ता धर्म कौन न करना चाहेगा? मगर ऐसा निठल्लापन धर्म नहीं हो सकता। धर्म विवेकपूर्वक कर्त्तव्यपालन में है।

बाइयाँ आज सुकुमार बनना चाहती हैं। मजदूरों से काम कराने में वे अपनी शान समझती हैं। मज़दूरिन समय पर न आई तो क्रोध से लाल हो जाती हैं, बेभान हो जाती हैं। कटुक वचन बोलती हैं। मजदूरिन के हृदय को पीड़ा पहुँचाती हैं। स्वयं निकम्मी बैठी निन्दा-विकथा में अपना समय बर्बाद करती हैं।

जरा सावधानी से विचार कीजिए—चक्की चलाने से पाप घटता है या बढ़ता है? पानी लाना, चक्की चलाना, रसोई बनाना आदि कामों में बहिनें स्वयं जितनी यतना रख सकती हैं, उतनी यतना अबोध मज़दूरिनें नहीं रख सकतीं। क्योंकि चटपट काम करके पैसा लेना उनका उद्देश्य होता है। बहिनो! याद रक्खो, जल्दी अपना सुधार न कर लोगी तो एक दिन ऐसा आ सकता है, जब मजदूरों के सामने तुम्हें नीचा देखना पड़ेगा।

प्रथम छोटे पापों का त्याग

आज मेरे विषय में कहा जाता है कि—मैं त्याग करने-कराने की बात कम करता हूँ। वनस्पति आदि के त्याग का उपदेश कम देता हूँ। पूर्ववर्ती आचार्य पूज्य श्रीलालजी महाराज तो इसके लिए बहुत उपदेश देते थे। मेरे विषय में यह कहा जाता है।' पर मैं कहता हूँ—वनस्पति-जमीकन्द आदि के त्याग का उपदेश देना मेरे लिए आनन्द की बात है। परन्तु उसके लिए पात्र भी तो चाहिए! आज

मानव-समाज में बहुत बड़े-बड़े पाप फूट निकले हैं। ऐसे बड़े-बड़े पाप पहले नहीं थे। तब छोटे पापों का त्याग करने से पहले बड़े पापों का त्याग करना आवश्यक है या नहीं? जब बड़े पापों की प्रचुरता न थी, तब छोटे पापों का त्याग करना उचित था और जब बड़े पापों का प्राचुर्य हो गया है, तो पहले उन्हीं का त्याग करना उचित है। इस समय जमीकन्द और रात्रिभोजन के त्याग के उप-देश को प्रधानता दी जाय या पंचेन्द्रिय जीवों की घोर हिंसा करके प्राप्त की जाने वाली चर्बी लगे हुए वस्त्रों के त्याग के उपदेश को प्रधानता दी जाय? मैं जिन बड़े पापों का उल्लेख अपने उपदेश में करता हूँ, उन्हें आप लोग आज ही त्याग दीजिए। फिर छोटे पापों के त्याग का उपदेश देने में मुझे असीम प्रसन्नता होगी। बड़े-बड़े पापों की ओर ध्यान न देकर अपेक्षा-कृत छोटे पापों को पहले दूर करने के लिए कैसे कहा जाय?

१४

विविध विषय

१. मानवभव ।

२. महिलामण्डल ।

३. आन्तरिक युद्ध ।

४. स्वावलम्बन-परावलम्बन ।

५. पापगोपन ।

६. दुख-सुख ।

७. सेवा ।

मनुष्यता का माप

अमीर लोग मनुष्यता को शायद् वस्त्रों और आभूषणों से नापते हैं। अगर मनुष्यता को नापने का यही गज न हो तो वे मनुष्यता की प्रतिस्पर्द्धा में बहुत पिछड़ जावें। इसीसे उन्होंने यह गज मान लिया है। उनकी निगाह में वह मनुष्य निरा जंगली पशु है, जिसके पास पहनने को कपड़ा नहीं और सजने को आभूषण नहीं। मगर बात असल में उल्टी है। जिसके पास मनुष्यता का बहुमूल्य आभूषण है उन्हें जड़ आभूषणों की क्या आवश्यकता है? जिन्हें मनुष्यत्व का वास्तविक और सहज आभूषण प्राप्त नहीं है वही लोग ऊपर से आभूषण लाद कर अपने आपको आभूषित घोषित करते हैं।

दो मार्ग

तुम ऐसी जगह खड़े हो, जहां से दो मार्ग फटते है। तुम जिधर चाहो, जा सकते हो। एक संसार का मार्ग है, दूसरा मुक्ति का। एक बन्धन का, दूसरा स्वाधीनता का।

संसार के-बन्धन के मार्ग पर चलोगे तो चलने का कभी अंत ही न आ सकेगा और लक्ष्य तक न पहुँच सकोगे। मोक्ष का मार्ग भवभ्रमण का शीघ्र ही अन्त लाता है।—शास्त्रकारों ने मोक्षमार्ग पर चलने की प्रेरणा की है।

शरीर का उपयोग

जो शरीर अरिहंतों को गणधरों को, महान् मुनिराजों को और बड़े-बड़े श्रावकों को मिला था वही शरीर आपको मिला है। ध्यानपूर्वक देखो तो मालूम होगा कि इस शरीर में कितनी सुन्दरता है! इस शरीर का सदुपयोग किया जाय तो परमात्मा और आत्मा की एकरूपता होने में देर न लगे!

इस प्रकार के शरीर का मिलना कितने महान् पुण्य का फल है! फिर भी परमात्मा के साथ एकता स्थापित करने में इसका सदुपयोग न करके निस्सार एवं तुच्छ वासनाओं के पोषण में लगाना कहाँ तक उचित है?

क्या इस शरीर के विषय में यह कहना उचित होगा कि जो शरीर कालुक कसाई को मिला था, वही तुम्हें मिला है? अगर यह कहना उचित न हो तो इस बात का ध्यान रखना भी उचित है कि तुम्हारा शरीर कालुक कसाई के समान न बन जाय। पद्मासन लगाकर, नेत्रों को नासिका पर केन्द्रित करके ध्यान करो तो इसी शरीर में जिन-मुद्रा प्रकट की जा सकती है। जब यह शक्य है तो फिर जिनमुद्रा न प्रकट करके राक्षसी मुद्रा प्रकट करना इस उत्तम शरीर का दुरुपयोग करना है।

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मनुष्यजन्म बड़े पुण्य से मिलता है। जो मनुष्य इस अमूल्य देह को पाकर भी व्यर्थ की मौज-शौक में इसका अन्त कर देता है, उसके बराबर कोई मूर्ख नहीं कहला सकता। बुद्धिमान् मनुष्य, इस देह को पाकर क्षण-क्षण में अपनी श्रेष्ठ साधना का मंत्र जपता रहता है, पर मूर्ख यही समझता है कि मैंने मनुष्य-जन्म पाया है, फिर ऐसी देह नहीं मिलेगी, इसलिए जो कुछ मौज-शौक करलूँ वही मेरी है।

मानव-शरीर

मानवीय शरीर भोगोपभोग के लिए नहीं किन्तु तप करने के लिए है। तप की साधना में ही इस शरीर की महत्ता है, सार्थकता है। मगर यह न भूल जाना कि केवल अनशन ही तप नहीं है: अनशन तो तप एक बाह्य अंगमात्र है। आज कुछ लोग अनशन तप की अवलेहना करते हैं और जैनों की वर्त्तमान दुर्बलता को अनशन का ही परिणाम प्रकट करते है, परन्तु मैं इससे विरुद्ध यह कहता हूँ कि जैनों में जो शक्ति और तेजस्विता अवशिष्ट है, वह अनशन तप के प्रभाव से ही है।

क्या पशु भोगोपभोग का सेवन नहीं कर सकते? अगर कर सकते हैं तो मनुष्य और पशु में क्या अन्तर है? अलबत्ता पशु तपस्या नहीं कर सकते। कुत्ता एक प्रतिष्ठित लॉर्ड के समान गाड़ी में बैठ सकता है, पर मनुष्य के समान कार्य दूसरा कोई नहीं कर सकता। मनुष्य ही क्रियात्मक धर्म का आचरण कर सकता है। आचरण की यह शक्ति देवों में भी नहीं है। अगर मनुष्य अपनी इस विशिष्टता के अनुरूप प्रवृत्ति नहीं करता तो उसकी मनुष्यता व्यर्थ हो जाती है। इसलिए मैं कहता हूँ—दुर्लभ मानव-शरीर का सदुपयोग करो।

मानव जीवन

कुत्ते की बात रहने दो, देव भी मनुष्य के समान नहीं हो सकता। जितने अवतार-तीर्थंकर हुए हैं, वे सब मनुष्य ही थे। देवों में से एक भी तीर्थंकर नहीं हुआ। मुसलमानों के सब पैगम्बर भी मनुष्य ही थे। फरिश्ते पैगम्बर नहीं हुए। मनुष्य-जीवन की इतनी बड़ी महत्ता है। मनुष्य इतना महान् है!

मानव जीवन की महत्ता

जो लोग भोगों का उपभोग करने में ही मनुष्य-जन्म की सार्थकता समझते हैं, वह भी कहते हैं कि मनुष्य जीवन की प्राप्ति दुर्लभ है। जो लोग भोगोपभोग के त्याग में ही मानवजीवन का विकास मानते हैं, इसीलिए उनके त्याग का उपदेश देते हैं, वह भी मानव-भव को दुर्लभ कहते हैं। उनका कथन यह है कि मनुष्य-भव बारम्बार मिलना कठिन है अतएव अतृप्तिप्रद एवं निस्सार भोगों के लिए मूल्यवान् मानवभव गँवाना उचित नहीं है। इस प्रकार मनुष्यभव की दुर्लभता सर्वसम्मत

है, भले ही विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाय। वास्तव में इस अनमोल जीवन को पाकर इसे सफल बनाने का विचार अवश्य करना चाहिए।

बहिरात्मा पुरुष भोग भोगने में ही मनुष्यजन्म की सार्थकता मानते हैं। उनका कथन है कि—'खाना, पीना, सुन्दर वस्त्र पहनना और सुन्दर भवन में निवास कर विलास करना, मानवजीवन की सार्थकता है। मानवजीवन पा करके भी यह सब भोग न भोगे तो फिर क्या पशु-जीवन में यह भोग भोगे जाएँगे? क्या पशु-जीवन में सुन्दर वस्त्र, आभूषण और सुस्वाद भोजन-पान की उपलब्धि सम्भव है? इसी प्रकार रेलगाड़ी, स्टीमर एवं वायुयान में बैठकर मनुष्य मौज न न करे तो पशु होने पर क्या हो सकेगा? अतएव भोग भोगने में ही मनुष्य के जीवन की सार्थकता है! इसी में प्राप्त अवसर का सदुपयोग है। यह एक पक्ष है।

दूसरा पक्ष भोगों का स्वेच्छापूर्वक परित्याग करने में ही मानव जीवन की सिद्धि मानता है। इस पक्ष का समर्थन अध्यात्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष करते हैं। उनका कथन है कि विशिष्ट विवेक से विभूषित, असाधारण बुद्धि-धन से संपन्न मानव-तन पाकर भी यदि तुमने केवल इतनी ही उन्नति की तो क्या किया? इतना तो पशु-पक्षी भी कर लेते हैं। फिर तुम्हारी उन्नति में क्या विशेषता रही?

तुम कहते हो, वायुयान में बैठकर यदि मनुष्य व्योमविहार न करेगा तो क्या पशु-पक्षी करेंगे? पर तुमने तो अब वायुयान बनाये हैं। और यंत्रों की सहायता लेकर आकाश में विचरण करते हो, परन्तु पक्षी स्वतंत्र रूप से, बिना किसी की सहायता लिये ही, आकाश में स्वच्छन्द विहार करते हैं।

तुम कहते हो, मनुष्य सुन्दर वस्त्र न पहनेगा तो क्या पशु-पक्षी पहनेंगे? पर इधर-उधर से कपास इकट्ठा करके, कपड़ा बना कर पहनने में क्या विशेषता है? साधारण जीव, जो अपने शरीर में से तन्तु निकाल कर अपना जाल बनाते हैं, उसमें तुम्हारे वस्त्र की अपेक्षा अधिक विशेषता है। तुम कपड़े पहन कर अकड़ते फिरते हो, मगर जरा सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखो तो सही कि तुम्हारे कपड़े में कितने छिद्र मौजूद हैं?

और मकड़ी जैसे सामान्य जन्तु के बनाये हुए जाल से अपने वस्त्र का मुकाबिला करो तो मालूम होगा कि उसका जाल कितना सुन्दर और छिद्रहीन है! तब तुम्हारी सारी अकड़ क्षण भर में गल जायगी।

तुम मनोरम प्रासाद का निर्माण कराने और उसमें रहने में जीवन की सार्थकता समझते हो; किन्तु मधुमक्षिका और चिउँटी जैसे सामान्य जीव अपने रहने के लिए, घोर श्रम करके जो मकान तैयार करते हैं, उन्हें देख कर क्या मनुष्य का बौद्धिक गर्व गल नहीं जाना चाहिए? उनके घरों में कितनी सुन्दर व्यवस्था होती है? प्रसूतिगृह अलग, भोजनगृह अलग! कला और आविष्कार की दृष्टि

से देखो तो मधुमक्षिका तुम्हारी अपेक्षा कहीं अधिक आगे बढ़ी हुई है। उसका कला-कौशल देख कर आज का वैज्ञानिक भी चकित रह जाता है। वह अपना घर कलापूर्ण और नया हुआ बनाती है। यही नहीं, वह थोड़े से ही मोम में अधिक से अधिक मधु भरने की व्यवस्था कर सकती है।

तात्पर्य यह है कि जो लोग भोजन-वस्त्र-मकान आदि के उपयोग में ही मनुष्यजन्म को सार्थक मानते हैं, वे पशु-पक्षियों से अधिक कुछ भी प्रगति नहीं कर सकते। मनुष्यजन्म की सार्थकता आत्मा के उस विकास में निहित है जो न केवल क्षुद्र वर्त्तमान में ही उपयोगी एवं कल्याणमय है, वरन् जिससे अनन्त मंगल-साधन होता है।

महिलामण्डल

स्त्रियों की उन्नति

स्त्रियों को हीन समझ लेने से ही आज भारत के प्राचीन गौरव से लोग हाथ धो बैठे हैं। जिस समय भारत उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा था उस समय का इतिहास देखने से पता लग सकता है कि तब स्त्रियों को किस उच्च-दृष्टि से देखा जाता था और समाज में उनका कितना ऊँचा स्थान था। पश्चात् जैसे-जैसे पुरुष स्त्रियों का सम्मान कम करते गये, वैसे ही वैसे स्वयं अपने सम्मान को भी नष्ट करते गये। राष्ट्र में नवीन चैतन्य आना स्त्रियों की उन्नति पर ही निर्भर है।

कई लोगों ने स्त्रीसमाज को पंगु समझ रक्खा है, या यों कहो कि पंगु बना रक्खा है। यही कारण है कि यहाँ सुधार-आन्दोलनों में पूरी सफलता नहीं होती। यदि स्त्रियों को इस प्रकार तुच्छ न समझ कर, उन्हें उन्नत बना दिया जाय, तो जो सुधार-आन्दोलन आज अनेक प्रयत्न करने पर भी असफल रहते हैं, फिर उन्हें असफल होने का सम्भवतः कोई कारण न रहे।

स्त्रियों की शक्ति कम नहीं है। जैन शास्त्र में वर्णन है, कि स्त्रियों की स्तुति स्वयं इन्द्रों ने की है और उन्हें साक्षात् देवी कहकर त्रिलोकी में उत्तम बताया है। त्रिलोकीनाथ को जन्म देने वाली स्त्रियाँ ही हैं, भगवान् महावीर ऐसे को उत्पन्न करने का सौभाग्य इन्हीं को प्राप्त है।

मातृसमाज का महत्त्व

अगर आप तटस्थ होकर विचार करेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि महिला-वर्ग के प्रति किस प्रकार अन्याय किया जा रहा है! पुरुषों ने स्त्री-समाज को ऐसी

परिस्थिति में रक्खा है, जिससे वे निरी बेवकूफ रहना ही अपना कर्त्तव्य समझें। कई पुरुष तो स्त्रियों को पैर की जूती तक कहने का साहस कर डालते हैं। लेकिन तीर्थंकर की माता को प्रणाम करके इन्द्र क्या बता गया है, इस पर विचार करो। इस पर भी विचार करो कि इन्द्र ने तीर्थंकर की माता को क्यों प्रणाम किया और तीर्थंकर के पिता को क्यों प्रणाम नहीं किया ?

स्त्रीसुधार

मित्रो ! स्त्री पुरुष का आधा अंग है। क्या यह सम्भव है कि किसी का आधा अंग बलिष्ठ और आधा अंग निर्बल हो ? जिसका आधा अंग निर्बल होगा उसका पूरा अंग निर्बल होगा। ऐसी स्थिति में आप पुरुष-समाज की उन्नति के लिए जितने उद्योग करते हैं वे सब असफल ही रहेंगे, अगर पहले आपने महिला-समूह की स्थिति सुधारने का प्रयत्न न किया। आप अंग्रेजी सरकार से स्वराज्य की मांग करते हैं किन्तु पहले अपने घर में तो स्वराज्य की स्थापना कर स्त्रियों के साथ समता और उदारता का व्यवहार करो। आप स्त्रियों के प्रति समभाव न रखकर उन्हें गुलाम बनाकर स्वराज्य की मांग किस मुँह से करते हैं ?

यह स्त्रियाँ जग-जननी का अवतार हैं। इन्हीं की कूंख से महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण आदि उत्पन्न हुए हैं। पुरुष-समाज पर स्त्री-समाज का बड़ा भारी उपकार है। उस उपकार को भूल जाना, उनके प्रति अत्याचार करने में लज्जित न होना घोर कृतघ्नता है।

मैं समभाव का व्यवहार करने के लिए कहता हूँ। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्रियों को पुरुषों के अधिकार दे दिये जाएँ। मेरा आशय यह है स्त्रियों को स्त्रियों के अधिकार देने में कृपणता न की जाय। नर और नारी में प्रकृति ने जो विभेद कर दिया है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। अतएव उनके कर्त्तव्य में भी भेद रहेगा ही। कर्त्तव्य के अनुसार अधिकारों में भी भेद भले ही रहे, मगर जिस कर्त्तव्य के साथ जिस अधिकार की आवश्यकता है वह उन्हें सौंपे बिना वे अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह निर्वाह नहीं कर सकतीं।

पुरुषो ! स्त्रीजाति ने तुम्हें ज्ञानवान् और विवेकी बनाया है, फिर किस बूते पर तुम इतना अभिमान करते हो ? किस अभिमान से तुम उन्हें पैर की जूती समझते हो ? बिना किसी कारण के एक उपकारिणी जाति का अपमान करना, उसका तिरस्कार करना धूर्त्तता और नीचता है। आपकी इन करतूतों से आपका समाज आज रसातल की तरफ जा रहा है। प्रकृति के नियम को याद रखिए, बिना स्त्री-जाति के उद्धार के आपका उद्धार होना अत्यन्त कठिन है।

कभी-कभी विचार आता है—धन्य है स्त्री-जाति ! जिस काम को पुरुष घृणित समझता है और एक बार करने में भी हायातोबा मचाने लग जाता है,

उससे कई गुना अधिक कष्टकर कार्य स्त्री-जाति हर्षपूर्वक करती है। वह कभी नाक नहीं सिकोड़ती। मुँह से कभी 'उफ्' तक नहीं करती। वह चुपचाप अपना कर्त्तव्य समझकर, अपने काम में जुटी रहती है। ऐसी महिमा है स्त्रीजाति की!

हे मातृ-जाति! तू जिसका एक बार हाथ पकड़ लेती है, जन्म भर के लिये उसी की हो जाती है। मृत्युपर्यन्त उसका साथ देती है। फिर भी निष्ठुर पुरुषों ने तुझे नरक का द्वार बतला कर अपने वैराग्य की घोषणा की है। अनेक ग्रन्थकार पुरुषों ने तुझे नीचा दिखलाया है। पुरुष के वैराग्य में स्त्री अगर बाधक है तो स्त्री के वैराग्य में पुरुष बाधक नहीं है? फिर क्यों एक की कड़ी से कड़ी भर्त्सना की जाती है और दूसरे को दूध का धुला बताया जाता है। इस प्रकार की बातें पक्षपात के अतिरिक्त और क्या हैं?

भाइयो! संसार में स्त्री-पुरुष का जोड़ा माना गया है। जोड़ा वह है जिसमें समानता विद्यमान हो। पुरुष पढ़ा-लिखा-शिक्षित हो और स्त्री मूर्खा, तो उसे जोड़ा नहीं कहा जा सकता। आप स्वयं विचार कीजिए कि क्या वह वास्तविक और आदर्श जोड़ा है?

स्त्रीशिक्षा

पुरुष आपको आपके अधिकार दे देंगे तो बिना शिक्षा पाए आप उन्हें निभा न सकेंगी। आपका शिक्षित होना इसी लिए जरूरी है। ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी-देवी ने ही भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार किया था। आपको इस बात का अभिमान होना चाहिए कि हमारी ही बहिन ने भारत को शिक्षित बनाया था। उस देवी के नाम से भारतीय लिपि अब भी ब्राह्मी लिपि कहलाती है। ब्राह्मी का नाम सरस्वती है और अन्य ग्रन्थों में उसे ब्रह्मा की पुत्री बतलाया है। ऋषभदेव ब्रह्मा थे और उनकी पुत्री ब्राह्मी कुमारी थी। इस प्रकार दोनों कथनों से एक ही बात फलित होती है। जैन ग्रन्थों से पता चलता है कि ऋषदेव की दूसरी पुत्री 'सुन्दरी' ने गणितविद्या का प्रचार किया।

× × × +

स्त्रीशिक्षा का तात्पर्य कोरा पुस्तक ज्ञान नहीं है। पुस्तक पढ़ना सिखा दिया और छुट्टी पाई, इससे काम नहीं चलेगा। याद रखना कोरे अक्षरज्ञान से कुछ नहीं होने का अक्षरज्ञान के साथ कर्त्तव्यज्ञान की शिक्षा दी जायगी तभी शिक्षा का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा।

स्त्रीशिक्षा के पक्ष में कानूनी दलील देने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है। शिक्षा देने के विषय में अब पहले जितना विरोध भी दिखलाई नहीं देता। पहले इतना अधिक वहम घुसा हुआ था कि लोग एक घर में दो कलम चलना अनिष्टजनक समझते थे। पर अब भी कुछ भाई स्त्रीशिक्षा का विरोध करते हैं।

उन्हें समझ लेना-चाहिये यह परम्परागत कुसंस्कारों का परिणाम है। स्त्रियों को शिक्षा देना अगर हानिकारक होता तो भगवान् ऋषभदेव अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की पुत्रियों को क्यों शिक्षा देते? आज पुरुष स्त्रीशिक्षा का निषेध भले ही करें मगर उन्हें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि रमणी-रत्न ब्राह्मी ने पुरुषों को साक्षर बनाया है। उसकी स्मृति में लिपि का नाम आज भी ब्राह्मी प्रचलित है। जो पुरुष जिसके प्रताप से साक्षर हुए उसी के वर्ग (स्त्री वर्ग) को अक्षरहीन रखना कृतघ्नता नहीं है? अन्य समाज में ब्राह्मी का 'भारती' नाम भी प्रचलित है। 'भारती' और'सरस्वती' शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी बतलाई जाती है। विद्यालाभ के लिए लोग सरस्वती-अरे स्त्री की पूजा करते हैं, फिर कहते हैं कि स्त्री शिक्षा निषिद्ध है! स्मरण रखिए, जब से पुरुषों ने स्त्री-शिक्षा के विरुद्ध आवाज़ उठाई है तभी से उनका पतन प्रारम्भ हुआ है और आज भी उस विरोध के कटुक फल भुगतने पड़ रहे हैं।

स्त्रीशिक्षा का अर्थ यह नहीं कि आप अपनी बहू-बेटियों को यूरोपियन लेडी बनावें और न यही अर्थ है कि उन्हें घूंघट में लपेटे रहें। मै स्त्रियों को ऐसी शिक्षा देने का समर्थन करता हूँ जैसी सीता, सावित्री, द्रौपदी, ब्राह्मी, सुन्दरी और अंजना आदि को मिली थी, जिसकी बदौलत वे प्रातःस्मरणिय बन गई हैं। और उनका नाम मांगलिक समझ कर आप श्रद्धा भक्ति के साथ प्रतिदिन जपते हैं। उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वे अज्ञान के अंधकार से बाहर निकल कर ज्ञान के प्रकाश में आ सकें। उन्हें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे वे भलीभाँति धार्मिक उपदेशों को अपना सकें। उन्हें ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिये जिसके कारण उन्हें अपने कर्त्तव्य का, अपने उत्तरदायित्व का, अपने स्वरूप का, अपनी शक्ति का, अपनी महत्ता का और अपनी दिव्यता का बोध हो सके। उन्हें ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिये जिससे वे अबला न रहें—प्रबला बनें। पुरुषों का बोझ न रहें-शक्ति बनें। वे कलहकारिणी न रहें-कल्याणी बनें। उन्हें जगज्जननी, वरदानी, एवं भवानी बनाने वाली शिक्षा की आवश्यकता है।

आन्तरिक युद्ध

तुम्हारे नेत्र बाहर की तरफ़ देखते हैं, क्योंकि वह भौतिक हैं। जिस दिन तुम्हें आन्तरिक चक्षु प्राप्त होंगे उस दिन अपने भीतर का हाल जानकर चकित रह जाओगे। तुम्हें दीख पड़ेगा-तुम्हारे भीतर दैवी शक्ति और आसुरी शक्ति के बीच निरन्तर तुमुल युद्ध मचा रहता है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि आसुरी शक्ति के प्रधान योद्धा हैं और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, संतोष आदि दैवी शक्ति के श्रेष्ठ सूरमा हैं।

तुम किसकी विजय चाहते हो? अगर आसुरी शक्ति को पराजित करना है

तो दैवी शक्ति का विकास करो। जगत् के समस्त महान् पुरुष दैवी शक्ति का विकास करके ही महान् बने हैं। दैवी शक्ति के विकास द्वारा आत्मा का कल्याण करना महाजनों का राजमार्ग है।

× × × ×

मुमुक्षु आत्मा बाह्य युद्ध की अपेक्षा कर्मशत्रुओं को परास्त करने के लिए आन्तरिक युद्ध लड़ना ही अधिक पसंद करता है। क्योंकि बाह्य युद्ध से प्राप्त होने वाली विजय क्षणिक है और परिणाम में परिताप उत्पन्न करने वाली है। एक बाह्य युद्ध अनेक युद्धों का जनक होता है। इस युद्ध से युद्ध की परम्परा चलती रहती है, उसका कहीं विराम नहीं होता। बाह्य युद्ध से अशांति बढ़ती ही है, कभी घटती नहीं है।

आन्तरिक युद्ध इससे विपरीत है। आन्तरिक युद्ध में विजय प्राप्त करने पर शत्रु का सदा के लिए नाश हो जाता है—कोई शत्रु ही नहीं रह जाता। यह विजय सम्पूर्ण और शाश्वत है। अतएव बाह्य शत्रुओं को जन्म देने वाले आन्तरिक-भीतर छिपकर बैठे हुए, शत्रुओं का अन्त करने के लिए ही प्रयास करना चाहिए।

जैन का अर्थ ही विजेता है। सच्चा जैन सदा ही संग्राम में जूझता रहता है। वह कायर बनकर कभी घर में बैठा नहीं रह सकता। वह अपने हाथ में क्षमा का खड्ग लेकर कर्म-शत्रुओं पर धावा बोलता है और अपने जैनत्व को प्रकाशित करता है। जैन होकर भी अगर कोई कायर बना रहता है, आन्तरिक शत्रुओं को परास्त करने का प्रयत्न नहीं करता तो जैनत्व मलीन होता है। प्राचीन काल के जैन अपने जैनत्व की रक्षा के लिए प्राणार्पण कर देते थे, पर जैनत्व को जरा भी मलिन नहीं होने देते थे। आज कायरता के कारण जैनों का जैनत्व उतना तेजस्वी नहीं रहा है। इसी कारण आज वीरोचित अहिंसा, क्षमा आदि को भी निर्बलता का रूप दिया जाता है। वास्तव में अहिंसा या क्षमा निर्बलता के शस्त्र नहीं हैं। वह वीरों के शस्त्र हैं। तलवार चाहे जितनी तीक्ष्ण धार वाली क्यों न हो, कायर के हाथ में पहुँचकर उल्टी हानिकर हो जाती है-कायर के प्राणों की ग्राहक बन जाती है। वही तलवार वीर पुरुष के हाथ में पहुँच जाय तो उसका असली मूल्य होता है।

इसी प्रकार अहिंसा और क्षमा के शस्त्र कायर के हाथ में पहुँचकर निष्फल हो जाते हैं और वीर पुरुष के हाथ में जाकर अमोघ शस्त्र बन जाते हैं।

अगर जैन अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करना चाहते हैं तो उन्हें अपने जैनत्व का प्रकाश फैलाना चाहिए। अपने जैनत्व को तेजस्वी और प्रभावशाली बनाना चाहिए। जैनों का जैनत्व, क्षत्रियों के क्षात्रत्व से तनिक भी हेठ नहीं है—किंचित् भी उतरता नहीं है। बल्कि जैनत्व में अहिंसक क्षात्रत्व होने के कारण वह अधिक तेजस्वी है।

जैन—विजेता सदा ही संग्राम में लगा रहता है। वह जिस सामग्री से कर्म-शत्रुओं के साथ आन्तरिक युद्ध करता है, उसका उल्लेख करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं।
खंतिं निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं॥
धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च इरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेणं पलिमथए॥
तवनारायजुत्तेण, भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चइ॥

अर्थात्—श्रद्धा (सत्य पर अटल विश्वास) रूपी नगर, तप एवं संवर (संयम) रूपी अर्गला, क्षमा रूपी बढ़िया गढ़, तीन गुप्ति (मन, वचन और काय का नियमन) रूपी शतघ्नी-तोप, पुरुषार्थ रूपी धनुष, ईर्या (विवेकपूर्वक प्रयाण) रूपी डोरी-ज्या और धैर्य रूपी ध्वजा, बना कर सत्य के द्वारा कर्म-शत्रुओं का नाश करना चाहिए।

तपश्चर्या रूपी बाणों से युक्त मुनि कर्म को भेद कर संग्राम में विजय प्राप्त करता है और सदा के लिए संग्राम की झंझट से छूटकर संसार से मुक्त हो जाता है।

हिंसा के प्रयोग से या हिंसाजनक अस्त्र-शस्त्र से प्राप्त की हुई विजय स्थायी नहीं रहती। इसके विपरीत प्रेम और अहिंसा द्वारा जनसमाज के हृदय पर जो प्रभुता स्थापित की जाती है वह सच्ची और स्थायी विजय है। वैर से वैर कभी शान्त नहीं हो सकता। अतएव अवैरवृत्ति से विजय प्राप्त करना चाहिए। यही जैनधर्म या सनातन धर्म है। शास्त्र में कहा है—

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जये जये।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

लाख सुभटों को दुर्जय संग्राम में जीतने की अपेक्षा अकेले अपने आपको जीत लेना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। आत्मविजय करने वाले की विजय श्रेष्ठ है।

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेवप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए॥

आत्मा के साथ जूझो। बाहरी युद्ध से क्या होना जाना है ? शुद्ध आत्मा के द्वारा अशुद्ध आत्मा पर विजय प्राप्त करने से ही सुख प्राप्त किया जा सकता है।

अन्त में शास्त्रकार कहते हैं—'सव्वमप्पे जिए जियं।' अर्थात् अगर आत्मा को

जीत लिया जो सभी को जीत लिया। आत्मविजय के पश्चात् किसी को जीत लेना शेष नहीं रहता।

स्वावलम्बन--परावलम्बन

स्वावलम्बी बनो

किसी भी दूसरे की शक्ति पर निर्भर न बनो। समझ लो, तुम्हारी एक मुट्ठी में स्वर्ग है, दूसरी मे नरक है। तुम्हारी एक भुजा मे अनंत संसार है और दूसरी भुजा में अनंत मंगलमयी मुक्ति है। तुम्हारी एक दृष्टि में घोर पाप है और दूसरी दृष्टि में पुण्य का अक्षय भण्डार भरा है। तुम निसर्ग की समस्त शक्तियों के स्वामी हो। कोई भी शक्ति तुम्हारी स्वामिनी नहीं है। तुम भाग्य के खिलौना नहीं हो, वरन् भाग्य के निर्माता हो। आज का तुम्हारा पुरुषार्थ कल भाग्य बन कर दास की भाँति, तुम्हारा सहायक होगा। इसलिए ऐ मानव ! कायरता छोड़ दे। अपने ऊपर भरोसा रख। तू सब कुछ है। दूसरा कुछ नहीं है। तेरी क्षमता अगाध है। तेरी शक्ति असीम है। तू समर्थ है। तू विधाता है। तू ब्रह्मा है। तू शंकर है। तू महावीर है। तू बुद्ध है।

परावलम्बन.

गृहस्थ हो या साधु, परावलम्बन सभी को समान रूप से हानिकारक होता है। परावलम्बन की भावना ही घृणास्पद है। परावलम्बन साहसहीनता, दीनता, असमर्थता और रुग्णता आदि अनेक दोषों का जनक है। जो व्यक्ति स्वयं यत्नपूर्वक कार्य करता है, उसके चित्त मे एक प्रकार के संतोषमय उल्लास का आविर्भाव होता है। वह सुखी होता है।

जो अपने हाथ से काम नहीं करता, आलस्य में विभोर होकर पड़ा रहता है, वह अपनी अन्यान्य शक्तियों के साथ शारीरिक शक्ति को भी खो बैठता है। शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाने पर मनुष्य अनेक रोगों का शिकार बन जाता है। जो बहिनें अपने हाथ से चक्की नहीं चलातीं, अपने हाथ से भोजन नहीं बनातीं, या ऐसा ही परिश्रम का कोई दूसरा काम नहीं करतीं वह स्वस्थ और सबल संतान को जन्म नहीं दे सकतीं।

मैंने एक घटना सुनी थी। किसी करोड़पति सेठ के संतान नहीं होती थी। उसने दूसरा विवाह किया। दूसरे विवाह से भी जब संतान न हुई तो चिकित्सक से परामर्श किया गया। चिकित्सक ने बतलाया-सेठानी शारीरिक परिश्रम नहीं करती, इस कारण संतान नहीं होती। अगर आप संतान चाहते हैं तो इनसे चक्की चलवाइए।

ऐसा ही किया गया। फल यह हुआ कि सेठानी के संतान होने लगी। तात्पर्य यह है कि मनुष्य को उद्योगशील होना चाहिए। जो बहिन या भाई धर्म के नाम पर सीधा खाना खाते हैं वह पाप को प्रचण्ड रूप दे रहे हैं। जो बहिनें आलस्य में पड़ी रहती हैं, उनकी संतान निर्बल, रोगी और अल्पायुष्क होती है। वह ब्रह्मचर्य को नष्टभ्रष्ट करने वाली होती है। अपनी संतान को अगर आप मुसीबत में नहीं डालना चाहते और पीछे पछताना नहीं चाहते तो पहले से ही आपको सावधान हो जाना चाहिए।

जो मनुष्य उद्योगशील होता है उसे देखकर आलसी की आत्मा काँप उठती है। उद्योगी को देखकर आलसी मनुष्य भी उद्योग के लिए कटिबद्ध बन जाता है। उद्योगी पुरुष, मनुष्य को तो क्या, सारी की सारी प्रकृति को जागृत कर देता है। प्राकृतभाषा के एक कवि ने कहा है—

तायविढत्ता लच्छी, नूणं पुत्तस्स होइ सा भागिणी।
होइ परस्स परित्थी, सय विढत्ता तओ जुत्ता॥

अर्थात्—पिता के द्वारा पैदा की हुई लक्ष्मी पुत्र के लिए बहिन के स्थान पर है और दूसरों के लिए परस्त्री के समान है। कोई सुसंस्कारी एवं सदाचारी पुरुष न भगिनी को भोगता है, न परस्त्री को ही भोगता है। अतएव अपने पुरुषार्थ से उपार्जन की हुई लक्ष्मी का भोग करना ही योग्य है।

दूसरे दृष्टिकोण से पिता द्वारा उपार्जित लक्ष्मी पुत्र के लिए माता के समान भी कही जा सकती है; क्योंकि उस लक्ष्मी का पति उसका पिता है। पिता जिसका पति हो वह पुत्र के लिए माता है। लड़का जब तक समझदार न हो, पढ़-लिखकर समर्थ न हो जाय, तब तक वह पिता की लक्ष्मी का, माता के दूध के समान, उपभोग कर सकता है, परन्तु जब सयाना हो जाय, समर्थ हो जाय, २५-३० वर्ष की उम्र का जवान पट्ठा बन जाय, तब क्या वह माता के स्तन को हाथ लगाएगा? इसी प्रकार सामर्थ्य प्राप्त होने पर पुत्र अपने पिता की लक्ष्मी को हाथ न लगावे। जो पुरुष ऐसा न करके पिता की लक्ष्मी का उपभोग करता है दुश्शील है।

यह साधना सरल नहीं है। मगर उद्योग का मार्ग निराला है। जो स्वयं उपार्जन नहीं कर सकता वह दूसरों के लिए बोझ है।

परावलम्बन

पग-पग पर दूसरों की सहायता माँगना, बात-बात में पराया मुँह ताकना एक प्रकार का भिखारीपन है। भिखारी कभी सुखी नहीं होता। शास्त्र भिखारियों की

प्रशंसा नहीं करता। सच्चा साहूकार वह है जो अनायास प्राप्त सहायता को भी ठुकरा देता है और अपने बूते पर खड़ा रहता है, अपने ही पुरुषार्थ का भरोसा रखता है।

स्वाधीनता चाहना और स्वाधीनता पाना, दो बातें हैं। दोनों में बहुत भेद है। आज लोगों को स्वतंत्रता तो चाहिए, पर उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें प्रयत्न नहीं करना है। स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए उत्सर्ग की आवश्यकता होती है—स्वतंत्रता का पथ फूलों से नहीं, कांटों से आकीर्ण है।

स्वावलम्बन, स्वतंत्रता की पहली शर्त है। और दूसरों की सहायता की तिल भर भी अपेक्षा न रखना स्वावलम्बन है।

परिश्रम--दान

धर्म परिश्रम त्याग कर परिश्रम के फल को अनायास भोगने का उपदेश नहीं देता। धर्म अकर्मण्यता नहीं सिखाता। धर्म हरामखोरी का विरोध करता है, हक़ के खाने का विधान करता है। आनन्द ने जिस दिन भगवान् का धर्मोपदेश सुना था उसी दिन पूँजी बढ़ाने का त्याग कर दिया था।

यह भी आशंका की जा सकती है कि आनन्द व्यापार में मुनाफ़ा लेकर दान कर देता तो क्या बुराई थी? उसने ऐसा क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि आनन्द ढोंग करना न जानता था। पैर में कीचड़ लगा कर फिर उसे धोने की अपेक्षा कीचड़ न लगने देना ही अधिक श्रेयस्कर है। पहले दूसरे से लेने और फिर उसे देने से लाभ क्या है? हाँ इसमें हानि अलबत्ता है। इस प्रकार का दान कीर्ति लूटने के लिए किया जाता है और वह दाता के अहंकार का पोषण करता है। अतएव उससे लोभ और अभिमान कषाय जागृत होते हैं। ऐसा दान देकर दाता, दानीय व्यक्ति से अपने आपको विशेष गौरवशाली ऊँचा और बड़ा अनुभव करता है और लेने वाले को दीन, दयापात्र. और नीच समझता है। इस दुर्भावना के अतिरिक्त इस दान में और क्या विशेषता है? अतएव पहले से ही प्राप्त की हुई वस्तुओं से ममत्व घटाने के लिए दान देना प्रशस्त है; परन्तु कीर्तिकामना से प्रेरित होकर, अहंकार का पोषण करने के लिए धन आदि का उपार्जन कर-करके दान देने की अपेक्षा उसका उपार्जन न करना ही बेहतर है।

आनन्द न तो कीर्तिकामुक था, न अहंकारी था। इसी कारण उसने गरीबों से लेकर फिर देने की अपेक्षा नफा न लेने का प्रण करना ही उचित समझा, जिससे किसी को अपनी हीनता न खटके। किसी के गौरव को क्षति न पहुँचे और कोई अपने आपको उपकृत समझकर ग्लानि का अनुभव न करे। श्रावक का यह कितना उच्च आदर्श है!

पापगोपन

कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने पापों को यत्न पूर्वक छिपाने की चेष्टा में संलग्न रहते हैं। वे सोचते हैं—पाप अगर प्रकाशित हो गया तो संसार घृणा एवं उपहास की मुझ पर वर्षा करेगा। मैं लोगों की नज़र से गिर जाऊँगा। किन्तु पाप को छिपाकर, थोड़े दिनों तक दुनिया में भले कहला लो, पर स्मरण रक्खो, ऐसा करने से अनन्त काल पर्यन्त बुरे बने रहोगे। और पाप को प्रकट करने से, दुनिया भले ही कुछ भी कहे, परमात्मा तुम्हें बुरा नहीं कहेगा। पाप के प्रकाशन से मलीन से मलीन आत्मा भी निर्मल बन जाता है। बड़े से बड़ा पापी भी परमात्मा के समक्ष अपने पापों को निवेदन करके निष्पाप बन जाता है।

खुली गटर की अपेक्षा ढँकी गटर अधिक बदबूदार होती है। इसी प्रकार प्रकट किये हुए पापों की अपेक्षा छिपाये हुए पाप अधिक हानिकारक होते हैं। अतएव पापों को दबाने की चेष्टा न करो। उन्हें खोल कर प्रकट कर दो और हार्दिक पश्चाताप करो। यही कल्याण-मार्ग है।

आलोचना पाप की होती है, धर्म की नहीं। पर आजकल उलटी गंगा बह रही है। धर्म की आलोचना की जाती है और पाप को छिपाने का-दबाने का प्रयत्न किया जाता है। धर्म की आलोचना करना अर्थात् अपने कर्मों की प्रशंसा कराना, समाचारपत्रों में नाम छपा देखने की कोशिश करना, अपने मुँह मियाँ मिट्ठु बनना क्या यह दीनता नहीं है? भगवान् ने कहा है—आत्मकल्याण के अभिलाषी को दीनता धारण करनी चाहिए जिससे तीनों शल्यों को बाहर निकाला जा सके।

पाप छिपाये ना छिपे

दुनियां पापों को छिपाना चाहती है, दूर नहीं करना चाहती। लोग पाप करने झिझकते नहीं, केवल पापी कहलाने से डरते हैं। उन्हें पता नहीं, पाप छिपाने से घटता नहीं, बढ़ता है।

दूसरों की आलोचना करना जितना सरल है, दूसरों की आलोचना का पात्र न बनने के लिए समुचित कार्य करना उतना ही कठिन है। आप लोग अगर अपने कुटुम्ब को पहले सुधारेंगे तो दूसरे बहुत-से लोग आपके बिना कहे—आपका अनुकरण करके ही सुधर जाएँगे। दूसरों से त्याग कराने से पहले आपको त्याग करना चाहिए।

भूल हो जाना अच्छी बात नहीं है, पर उस भूल को छिपा कर अपने आपको भूलरहित प्रकट करने की भूल करना बहुत ही जघन्य कृत्य है। अधिक से अधिक सावधान रहकर भूल न होने देने की चेष्टा करो, पर फिर भी अगर भूल हो जाए

तो सच्चे मर्द की तरह उसे स्वीकार कर लो। उसे प्रकट कर दो। उसे दबाने की रंचमात्र भी चेष्टा मत करो। इससे तुम्हारी प्रतिष्ठा को हर्गिज़ धक्का न पहुँचेगा। अगर प्रतिष्ठा को धक्का लगता हो तो भी परवाह मत करो। ऐसा करने से तुम्हारा आत्मबल बढ़ेगा और तुम अपनी नज़रों में ही गिरने से बच सकोगे।

ज्ञानवान् पुरुष दूसरों की दलीलों में नहीं पड़ते। वे अपने आपको अपनी ही तराजू पर तौलते हैं। थोड़ी-सी भूल हो जाने पर उसे हिमालय-सी भूल समझते हैं। वे अपने को दोष का पात्र प्रकट करते हैं। वे कहते हैं, देखो मेरी दुष्टता का, मेरे नमकहरामीपन का कहीं ठिकाना नहीं है कि जिसकी कृपा से मैंने यह मानव-तन पाया है उसी को मैं भूल रहा हूँ।

बालक अपने पिता से उत्पन्न हुआ और माता ने उसे जन्म दिया, अतएव यह कहा जा सकता है कि यह शरीर माता-पिता ने दिया है। लेकिन बहुत-से लोग माता-पिता के महान् उपकार का विस्मरण करके, पीछे से आई हुई स्त्री के मनोहारी हावभाव से मुग्ध होकर, उसकी सम्मोहिनी माया के जाल में फँस कर माता-पिता के शत्रु बन जाते हैं और स्त्री की उँगली के इशारे पर नाचते हैं। वह जिस प्रकार नचाती है, पुरुष बन्दर की तरह उसी प्रकार नाचता है। कई लोग तो माता-पिता को इतनी पीड़ा देते हैं कि सुनकर हृदय मर्माहत हो उठता है। उन्हें अपशब्द सुनाने, मार-पीट करने तक की घटनाएँ घटती हैं। यह सब बातें मनुष्य की कितने दर्जे की कृतघ्नता सूचित करती हैं? स्त्री को भी जाने दीजिये, क्या वेश्या के माया-पाश में फँसकर बहुत-से लोग अपने माता-पिता का तिरस्कार नहीं करते?

जिस माता ने अपने यौवन के सौन्दर्य की परवाह न करके, अपने हृदय के रस से बालक के प्राणों की रक्षा की, जिसने नौ मास और कुछ दिनों तक अपने उदर में रखकर बालक को बढ़ाया, उसकी रक्षा के लिए संयम से रही, प्रसव के पश्चात् जिसने सब प्रकार की घृणा को ममता के ऊपर निछावर कर दिया, जो बालक पर अपना सर्वस्व निछावर करने को उद्यत रहती है, जिसकी बदौलत पुत्र, पत्नी पाने के योग्य बना, जिसने अपने पुत्र और पुत्रवधू से अनेकानेक मधुर संसूबे बांधे, उसी माता की असहाय वृद्धावस्था में जब दयनीय दशा होती है और वह भी अपने पुत्र के हाथ से, तब उस 'पूत' को क्या कहा जा सकता है?

+ × × ×

सर्वप्रथम यह देखने की आवश्यकता है कि हम किस जगह भूल करते हैं, किस स्थान पर हमारा सच्चा मार्ग हमसे छूट जाता है और हम विपथगामी बनते हैं? मेरे विचार में सब से पहली भूल तब होती है जब कोई मनुष्य बुरा काम करता है लेकिन उसे बुरा न समझ कर अच्छा समझता है। भूल को भूल समझ लेने से वह इतनी भयंकर नहीं रहती। मगर जब भूल, भूल ही नहीं मालूम होती, तब भूलों की परम्परा चल पड़ती है और भूल करने वाला उसका परिमा-

र्जन करने की ओर भी ध्यान नहीं देता। इसी कारण संसार चक्कर में पड़कर अपने अन्तर को मलीन बनाये हुए है। लोग अन्तःकरण की मलीनता अपनी आँखों से देखना चाहते हैं परन्तु आँखों से वह दीखती नहीं है। अतएव प्रत्येक वस्तु को पकड़-पकड़ कर देखो और प्रत्येक भावना की जाँच करो कि इससे अन्तःकरण मलीन बनेगा या निर्मल होगा ?

दुख-सुख

संसार सम्बन्धी लालसाओं को बढ़ाना दुःख है और लालसाओं पर विजय प्राप्त करना सुख है।

सच्चा सुख

मित्रो ! दूसरे की सहायता में शक्तिखर्च करना, दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानना और दूसरे के सुख को अपना सुख समझना, मनुष्य का आवश्यक कर्त्तव्य है। ईश्वर से प्रार्थना करो कि आपकी प्रकृति ऐसी बन जाय। आपके हृदय में ऐसी सहृदयता और सहानुभूति उत्पन्न हो जाय।

एक व्यक्ति जब तक अपने ही सुख को सुख मानता रहेगा, जब तक उसमें दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानने की संवेदना जागृत न होगी, तब तक उसके जीवन का विकास नहीं हो सकता। उसके जीवन का धरातल ऊँचा नहीं उठ सकता। अवतारों और तीर्थंकरों ने दूसरों के सुख को ही अपना सुख माना था। इसी कारण वे अपना चरम विकास करने में समर्थ हुए। जिस गरीब मनुष्य की भावना में ऐसी विशालता आ जाती है वह राजा को भी डिगा सकता है। पर जो अपने ही सुख को सुख समझता है, वह चाहे राजा ही क्यों न हो, शैतान या दुनियाँ का सत्यानाश करने वाला ही कहा जायगा।

दुख

लोग दुख से दूर भागते हैं, घबराते हैं और दुख आ पड़ने पर दीनता धारण करते हैं। उन्हें नहीं मालूम कि दुख जीवन-शक्ति बढ़ाने में जितने उपयोगी होते हैं, उतनी दूसरी कोई भी वस्तु नहीं। वीर पुरुष दुख से दूर नहीं भागता और महावीर वह है जो स्वेच्छापूर्वक दुख उत्पन्न करके उनसे संघर्ष करता है और आत्मा का ओज, तेज एवं बल बढ़ाता है। भगवान् महावीर की सिद्धि का रहस्य क्या है ? उनके जीवन का बहुत-सा भाग दुखों से संघर्ष करने में बीता और उस संघर्ष के पश्चात् उनकी आत्मा में लोकोत्तर ज्योति प्रकट हुई।

ज्ञानी पुरुष मानते हैं—'समस्त दुख समाप्त हो जाते हैं पर मैं कभी समाप्त नहीं हो सकता।'

संसार में अनादि काल से मैंने अनन्त दुख सहन किये हैं। यह दुख कहाँ से आते हैं? इस प्रश्न पर विचार करते हुए मै इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि दुख मात्र अपने संकल्प से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार आत्मा स्वयं अपने दुखों का स्रष्टा है तो उसे विजेता भी क्यों नहीं बनना चाहिए?

सच्चा सुख—निरीहता

एक आदमी सुख को पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़ा। सुख भाग कर राजा के महल में घुस गया। आदमी उसके पीछे राजमहल में पहुँचा तो सुख राजमहल की खिड़की में से निकल कर नीचे आ पहुँचा। वह आदमी भी उसके पीछे कूद पड़ा। तब तक सुख राजा के उद्यान में चला गया। आदमी भी उसे कब छोड़ने वाला था? वह उद्यान की ओर लपका। इतने में सुख वहाँ से भी निकल कर जङ्गल में भाग गया। आदमी ने उसका पीछा किया। अन्त में आदमी जब बुरी तरह थक गया और सुख हाथ न आया, तब निराश होकर वह एक पेड़ की छाया में बैठ गया। उसे भूख लग रही थी। उसने रोटी निकाली और खाने लगा।

इसी समय एक भिखारी आया, भूख से व्याकुल और थका हुआ। भिखारी ने कहा—'प्यारे! तू सुखी प्राणी है। मै भूख से मर रहा हूँ। मुझे भी कुछ खाने को दे और सुखी कर।'

आदमी सोचने लगा—'यह भिखारी क्या कह रहा है? मैं सुखी हूँ? मेरे पास सुख है? क्या दूसरे को सुखी बनाने में ही सच्चा सुख है?'

सुख के पीछे मारा-मारा फिरने वाला मनुष्य सुख का स्वरूप समझा और वह सचमुच सुखी हो गया।

सेवा

वास्तव में अखिल संसार सेवा के सहारे टिका हुआ है। संसार में जब सेवाभावना कम हो जाती है तब उत्पात होने लगता है और जब सेवाभावना का उत्कर्ष होता है तो संसार स्वर्ग बन जाता है। अतएव सेवा-कार्य के प्रति जरा भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और न सेवा में छल-कपट को स्थान देना चाहिए।

सेवा तप है और वह भी आभ्यन्तर तप है। बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप से अधिक शुद्धि होती है।

सेवा आत्मा और परमात्मा के बीच सम्बन्ध जोड़ने वाली शृंखला है।

जो मनुष्य किसी प्रकार के दुर्भाव या घृणाभाव को पास नहीं फटकने देता और जनसेवा को परमात्मा की सेवा मानकर निरन्तर सेवा में संलग्न रहता है वह महान् लाभ प्राप्त करता है।

सेवा का उत्कृष्ट फल तीर्थंकर पद की प्राप्ति होना है। सेवा से जीवन सर्व-गुणसम्पन्न बनता है।

प्राणी-सेवा

समस्त प्राणियों में ईश्वर विराजमान है। प्राणियों की सेवा करना ईश्वर की सेवा है। जिस मनुष्य में इतना ज्ञान नहीं वह पशु से भी गया-बीता है। अपने मनुष्यत्व को सार्थक करने के लिये जो सब प्राणियों की सेवा करता है, वह देवत्व को प्राप्त करके अक्षय और असीम कल्याण का भाजन बनता है। वह 'सच्चिदानन्द' के सच्चे स्वरूप का ज्ञाता है।

सेवा और उत्सर्ग

अगर तुम श्रावक होकर भी अपने घर का कचरा गली के नाके पर बिखेर देते और गन्दगी को बढ़ाते हो तो कहना चाहिए कि तुमने अब तक नहीं समझ पाया है कि गुरु की सेवा किस प्रकार करनी चाहिए ?

'तुम्हें स्वामी बन कर नहीं, वरन् सेवक बन कर जन-समाज की सेवा करनी चाहिए। सेवा करते-करते अगर प्राणों का उत्सर्ग करना पड़ जाय तो वह भी प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए।'

सच्चा सेवक

चोरी, अत्याचार या अन्याय करके हथकड़ी-बेड़ी पहनना बुरी बात है, पर चोरी, अत्याचार या अन्याय का प्रतिकार करने के उपलक्ष्य में हथकड़ी-बेड़ी पहननी पड़े तो सच्चे सेवक को उन्हें 'सेवा के आभूषण' समझ कर प्रसन्न होना चाहिए। हथकड़ी-बेड़ी ही सच्चे सेवक के सर्वश्रेष्ठ आभूषण हैं।

उपकार

जो मनुष्य अपना-केवल अपना ही स्वार्थ देखता है, वह अपने ही स्वार्थ का नाश करता है। इससे विपरीत, जो दूसरों का उपकार करता है वह अपना ही उपकार करता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो विदित होगा कि उपकारी का उपकृत पर जितना एहसान है, उससे उपकृत का उपकारी पर कुछ कम एहसान नहीं है, क्योंकि उपकृत, उपकारी को अपने उपकार का अवसर देता है।

—:::—

१५

प्रकीर्णक

पापी से घृणा न करो

आप पापी को देखकर घबराते हैं, उससे भय खाते हैं। लेकिन उससे भी आप चाहें तो बहुत कुछ सीख सकते हैं, साथ ही उसे बहुत कुछ सिखा सकते हैं। यदि आप में सच्ची और सुदृढ़ धर्मनिष्ठा है तो आपको पापी से न घबराना चाहिए, न घृणा करनी चाहिए और न उसे उपेक्षादृष्टि से देखना चाहिए। अगर आपको पाप से सचमुच घृणा है तो जैसे आपको अपना पाप असह्य जान पड़ता है, उसी प्रकार अपने पड़ौसी का भी असह्य जान पड़ना चाहिए। आप पापी का उद्धार करके उसे निष्पाप बनाने की चेष्टा कीजिए। यह आपकी सब से बड़ी धर्म-सेवा होगी। अगर पापी अपनी पाप बुद्धि नहीं छोड़ता, यदि वह अपने पाप से चिपटा ही रहता है, तब भी तुम्हें निराश नहीं होना चाहिए। आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगामी स्वभाव वाला है। धर्म उसका स्वरूप है। पाप आत्मा के लिए विकार है। विकार से आत्मा कभी न कभी ऊबेगा ही। अतएव आशा को न त्याग कर उसके पापों का अन्त करने का प्रयास किये जाओ।

कदाचित् तुम्हें सफलता मिलती न दिखाई दे तो क्या हानि है? बल्कि तुम्हारा तो एकान्त लाभ ही लाभ है। पापों का अन्त करने के लिए किया गया प्रत्येक प्रयास तुम्हारी धर्मसेवा है और धर्म-सेवा से तुम्हारा कल्याण ही होगा। इसके सिवा अगर पापी तुमसे कुछ नहीं सीखता तो न सही। एक बात तुम पापी से सीख सकते हो-'पापी अपनी पाप-बुद्धि में जितना दृढ़ है, हमें धर्म-बुद्धि में उससे कुछ अधिक ही दृढ़ होना चाहिए।' अगर पापी अपना पाप नहीं छोड़ता तो मैं अपना धर्म कैसे छोड़ दूँ? इस प्रकार की दृढ़ भावना आई कि भगवान् महावीर आये समझो।

अन्तर्ध्वनि

हमारे अन्दर अनेक त्रुटियों में से एक त्रुटि यह भी है कि हम अपनी अन्तरंगध्वनि की ओर कान नहीं देते? अन्तरात्मा जिस बात को पुकार-पुकार कर कहता है उसे सुनने और समझने की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। अगर मनुष्य अपने अन्तर्नाद की ओर ध्यान दे तो उसे प्रायः कर्त्तव्य के विषय में विमूढ़ न होना पड़े। अन्तरात्मा से ध्वनि निकल रही है—'मैं पापी कहलाना भी पसंद नहीं करता' फिर भी मनुष्य अपनी शिक्षा की ओर आप ही ध्यान नहीं देता। यह एक बड़ी भारी त्रुटि है। लोग पापी नाम भी नहीं धराना चाहते, फिर भी पाप करते चले जाते हैं। यह तो ऐसी ही बात है कि कोई 'कलमुँहा' कह दे तब तो बुरा लगे और अपने आप अपने मुँह पर कोयला पोतने में बुरा न लगे। यह कितनी बेढँगी बात है? यह कैसे मिट सकती है?

भय

भय का वास्तविक कारण न होने पर भी वहमी भय की कल्पना करके भीत होता है। उसे साधारण वस्तु भी भयंकर प्रतीत होने लगती है। संसारी जीव को बाहरी भूत ने ही नहीं आन्तरिक भूत ने भी भ्रम में डाल रखा है। यह

आन्तरिक भूत घोर अनर्थ का कारण बना हुआ है। मिथ्यात्व रूपी भूत ने जीव को ऐसा फँसा रक्खा है कि उसके मारे जीव संसार के भ्रमजाल को अपना मान बैठा है। उसका ज्ञान विपरीत हो रहा है। अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी में भी साँप का भ्रम हो जाता है। इसका कारण यह है कि रस्सी का रस्सी रूप में निर्णय करने के लिए अपेक्षित प्रकाश का वहाँ अभाव रहता है। जहाँ पर्याप्त प्रकाश नहीं है, वहाँ भ्रम हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

मनुष्य और पशु

मित्रो ! यह संसार परमात्मा का घर है। इसमें रहने वाले मनुष्यों के लिये जितने कांटे मनुष्यों ने विखेरे है उतने किसी ने किसी प्राणी के लिए नहीं विखेरे। मनुष्य, मनुष्य के साथ जैसा सलूक करता है, वैसा कोई राक्षस भी मनुष्य के साथ नहीं करता। मनुष्य के लिए मनुष्य ही सबसे अधिक खतरनाक है। आज मनुष्य ने मनुष्य को घोर संकट में डाल रक्खा है वैसा संकट कोई और पैदा नहीं कर सकता। मनुष्य की यह स्थिति देखकर अनायास ही मुँह से निकल जाता है कि वर्त्तमानकालीन स्वार्थी मनुष्यों में पशुता के भी उज्ज्वल अंश नज़र नहीं आते। ऐसे मनुष्यों के साथ पशुओं की तुलना की जाय तो पशुओं की अपेक्षा मनुष्य ही निकृष्ट सिद्ध होगा। वह अपने बुद्धिवैभव के कारण पतन के मार्ग में अधिक कौशल के साथ अग्रसर हो रहा है। ईश्वर ही जाने, कहाँ उसके मार्ग का अन्त होगा ? न जाने किस निविड़ अन्धकार में जाकर वह रुकेगा ?

ऐसी स्थिति मे मनुष्य के साथ प्रेम करना, मैत्री स्थापित करना, यही ईश्वर के पथ के कंटकों को वीनना है। ऐसा करके ही मनुष्य अपने पुराने पापों का प्रायश्चित्त कर सकता है। परमात्मा के साथ मिलाप होने का भी यही मार्ग है।

हमारे अकेले के प्रयास से क्या होगा ? ईश्वर के मार्ग में कांटे विखेरने वाले बहुत हैं। मै अकेला कितने कांटे वीन सकूँगा ? जब पूरा आसमान फट पड़े तो थेगली कहाँ-कहाँ लगाई जाय ? इस प्रकार का कायरता का विचार मत करो। यह कर्त्तव्य से विमुख बने रहने का बहाना है। तुम्हें दूसरों के विषय में सोचने का अवकाश ही क्यों मिलता है ? तुम्हारे सामने कर्त्तव्य का पहाड़ खड़ा है। इस से तुम्हें फुर्सत ही कहाँ है ? यह विचार छोड़ो कि दूसरे क्या करते हैं या क्या नहीं करते ? जो कुछ कर्त्तव्य हैं उसे अकेले ही करना पड़े तो किये चलो। दूसरे के विषय में तनिक भी न सोचो।

सफ़ाई

जब मै श्रावकों के गंदे घर देखता हूँ तो सोचने लगता हूँ—क्या सच्चे-विवेकी श्रावक का घर गंदा हो सकता है ? जो गंदगी फैलाता है वह दोषी नहीं, और जो गंदगी साफ़ करता है वह दोषी कहलाय—नीच गिना जाय ! मैं पूछता हूँ—यह कहाँ का अनोखा न्याय है ? वास्तव में अहिंसाधर्म को ठीक तरह न समझने के कारण ही घर में गंदगी रहती है। जिनके घरों में आटा, दाल या इसी

प्रकार की कोई अन्य खाद्य वस्तु सड़ी-गली पड़ी रहती है, और उसमें जीव-जन्तु उत्पन्न होते रहते हैं, उन लोगों ने अहिंसाधर्म के मर्म को समझा ही नहीं है। इस कथन में जरा भी अत्युक्ति नहीं है।

जो लोग अपना ही घर साफ़-सुथरा नहीं रख सकते, वे दूसरों के घरों की क्या खाक सफाई करेंगे?

कुछ लोग कहते हैं—जैनधर्म तो निवृत्तिप्रधान धर्म है, तब ऐसी प्रवृत्ति में किस लिए पड़ना चाहिए? बात सही है। जब संसार से निवृत्त हो जाओ, तब निवृत्तिधर्म का पालन करो, यह उचित ही है; पर जहाँ तक तुम संसार से निवृत्त नहीं हुए हो, प्रवृत्ति में पड़े हुए हो, तहाँ तक पराधीन रहने और परावलम्बन का पोषण करने की आज्ञा जैनधर्म नहीं देता। जैन शास्त्र यह नहीं बतलाता कि तुम प्रवृत्ति में पड़े रहकर भी पराधीन बनो। इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। जैनधर्म निवृत्तिप्रधान तो है पर एकान्त निवृत्ति रूप नहीं है। जो प्रवृत्ति, निवृत्ति में साधक हो और बाधक नहीं हो, उसका जैनधर्म में एकान्त निषेध नहीं है। जैनधर्म अनेकान्तपोषक धर्म है।

भगवान् महावीर ने गृहस्थधर्म का जो विधान किया है उसके अनुसार आचरण करने से गृहस्थ के घर में अशुचि या अपवित्रता को अवकाश ही नहीं है। पर आजकल कुछ लोग गृहस्थ होते हुए भी सूक्ष्म हिंसा का गहरा विचार तो करते हैं, पर परम्परा से होने वाली स्थूल-हिंसा की ओर ध्यान भी नहीं देते। जो स्थूल-हिंसा परम्परा से मनुष्य-हिंसा तक का रूप धारण कर लेती है, उसे जब सरकारी कानून से बाध्य होकर मानते ही हो, तो क्या यह बेहतर न होगा कि उसे धर्म का कानून समझ कर मानो? स्वेच्छा से अहिंसा का पालन करना क्या श्रेष्ठतर नहीं है?

शारीरिक सफाई

तुम अपना बङ्गला साफ रखना चाहते हो पर अगर तुम्हारा शरीर साफ़ न हुआ तो बङ्गले की सफ़ाई से क्या होगा? तुम आलमारी, मेज आदि फर्नीचर को साफ़ रक्खो, पर शरीर-सुधार की ओर तनिक भी ध्यान न दो तो वह सुधार है या बिगाड़?

मितव्ययी बनो

तुम इतना अधिक खर्च मत रक्खो जिससे तुम्हें कर्ज लेना पड़े। आय के परिमाण में व्यय करो। अनिवार्य आवश्यकता के समय कर्ज लेना पड़े तो उसे नियत समय से पहले ही चुका डालो। अगर कर्ज सिर पर चढ़ा लोगे और समय पर चुका न सकेगा तो लेनदार तुम पर दावा करेगा। इसमें तुम्हारा पतन है।

जिसमें जो गुण हो, हमें उस गुण को ग्रहण करना चाहिए। जो लोग नाम से बड़े हैं, पर दुर्गुणों का प्रचार करने में ही अपने बड़प्पन का प्रयोग करते हैं, उनके साथ हमारा लेनदेन नहीं है।

सुन्दर रूप

बाहरी चमक-दमक को सुन्दर रूप मत समझो। जिस रूप को देखकर पाप काँपता है और धर्म प्रसन्न होता है, वही सच्चा सुरूप है—सौन्दर्य है।

असली सौन्दर्य आत्मा की वस्तु है। आत्मिक सौन्दर्य की सुनहरी किरणों जो बाहर प्रस्फुटित होती हैं, उन्हीं से शरीर की सुन्दरता बढ़ती है।

पाश्चात्य सभ्यता

पश्चिम की सभ्यता ईश्वर का वरदान समझी जाती है। लोग उसके पीछे पागल हो रहे हैं। मगर उन्हें यह नहीं मालूम कि सभ्यता की इस रेल का एंजिन ही खराब है। पाश्चात्य सभ्यता मानव-जीवन का कितना ह्रास कर रही है, यह कौन जानता है!

जहाँ व्यभिचार को भी पाप नहीं माना जाता वहाँ की सभ्यता कैसी अलबेली होगी! पेरिस बहुत सुन्दर शहर है, पर सुना गया है कि वहाँ अगर कोई बाहरी पुरुष किसी स्त्री से मिलने आता है तो उसके पति को बाहर चला जाना पड़ता है। अमेरिका खूब सुधरा हुआ देश माना जाता है। पर वहाँ, सुनते हैं, प्रतिशत पंचानवे विवाह-संबंध तोड़ दिये जाते हैं। पाश्चात्य देशों की ऐसी सभ्यता है।

ईश्वरीय आज्ञापालन

ईश्वर की आज्ञा की अवहेलना करके, उसके नाम की माला जप लेने मात्र से कल्याण नहीं हो सकता।

आखिर तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारे काम आयगा। विश्व का कोई भी पदार्थ तुम्हारे काम नहीं आ सकता। यह सत्य है और इतना स्पष्ट है कि कभी भी इसकी परीक्षा की जा सकती है। फिर भी न जाने क्यों मनुष्य अपनी आँखें बंद किये सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट सत्य को नहीं देखता और दुनिया की वस्तुओं को आत्मा बेचकर खरीदने में ही अपना कल्याण मानता है।

संग

संग मात्र त्याज्य है, चाहे वह सत्संग हो या कुसंग हो। आत्मा असंग है। सबसे निराला है। एक रूप है। इसलिए संग मात्र उपाधि है। अलबत्ता कएटके-

नैव कर्त्तकम्, नीति के अनुसार कुसंग का त्याग करने के लिए सत्संग का आश्रय लेना कर्त्तव्य हो जाता है।

चेतावनी

तुम्हारे काले बाल रुई के समान सफेद हो गये हैं, सो तुम्हारी इच्छा से या अनिच्छा से? तुम तो उन्हें काला ही रखना चाहते थे, पर उन्होंने तुम्हारी चाह की परवाह नहीं की। तुम्हारे आदेश को अस्वीकार कर दिया और सफेद हो गये। सिर के यह बाल मानो चेतावनी दे रहे हैं कि तुम हमें भी अपने काबू में नहीं रख सकते तो अन्य वस्तुओं को कैसे रख सकोगे? बालों की यह चेतावनी बहुत स्पष्ट है, लेकिन सब उसे सुन नहीं पाते। यह कैसी दयनीय दशा है?

विपत्ति-सम्पत्ति

विपत्ति को सम्पत्ति के रूप में परिणत करने का एक मात्र उपाय यह है कि विपत्ति से घबड़ाना नहीं चाहिए। विपत्ति को आत्मकल्याण का श्रेष्ठ साधन समझकर, विपत्ति आने पर प्रसन्न रहना चाहिए। गजसुकुमार मुनि के सिर पर सोमल ब्राह्मण ने धधकती आग रख दी थी। लेकिन गजसुकुमार मुनि तनिक भी नहीं घवराये। उन्होंने माना, मैंने इस विपदा को निमंत्रण दिया था इसीलिए यह आई है। सचमुच वह भयंकर विपदा मुनि के लिए सम्पदा के रूप में परिणत हो गई। मुनि ने आत्मकल्याण की साधना करके परमात्मा पद प्राप्त किया।

मिथ्याभिमान और धर्माभिमान

जहाँ मिथ्याभिमान धर्म को ठोकर मारता है, वहाँ धर्माभिमान धर्म के लिए बलिदान हो जाता है। जहाँ मिथ्याभिमान कर्त्तव्य से पराङ्मुख होता है, वहाँ धर्माभिमान उसे हृदय के सिंहासन पर विराजमान करता है। जहाँ मिथ्याभिमान विलास के चरण चूमता फिरता है, वहाँ धर्माभिमान अपने नेत्र के थोड़े से इशारे से उसे अपना गुलाम बना देता है। मिथ्याभिमान जहाँ कायरता से थरथर कांपता है, धर्माभिमान वहीं पैर जमा कर उस पर विजय प्राप्त करता है। मिथ्याभिमान जीवन का अपकर्ष और धर्माभिमान उत्कर्ष करने वाला है।

आगम प्रमाण (१)

आगम प्रमाण के आगे हमारे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण तुच्छ हैं; क्योंकि हमारा अनुभव और हमारा अनुमान अत्यल्प और बहुत ही सीमित है। आगम में जो कुछ भी कहा गया है वह अनन्त ज्ञानियों द्वारा प्रत्यक्ष देखे हुए का विवरण है। इसलिए जैसे सूर्य के प्रकाश के सामने सभी प्रकाश तुच्छ हैं उसी प्रकार आगम प्रमाण के सामने सभी दूसरे प्रमाण तुच्छ हैं।

आगम सर्वज्ञ भगवान् की अनुभूत वाणी है, अतएव वह अन्य प्रमाणों की

अपेक्षा अधिक श्रद्धेय और मान्य है। यह सत्य होने पर भी ज्ञानी जनों का यह उपदेश है कि किसी की देखादेखी तुम आगम को न मानो; परन्तु अन्तरात्मा से परिपूर्ण विचार करके उसकी श्रेष्ठता को समझो और तब उसपर अविचल श्रद्धा करो। आगम के विषय में वही अन्तरात्मा विचार करने का अधिकारी है जिसमें पर्याप्त परिमाण में निर्मलता विद्यमान है।

पानी में मुख देखा जा सकता है; पर उसी पानी में जो स्थिर और निर्मल हो। जो पानी ताप के कारण उबल रहा है या जिसमें मैल मिला हो, उसमें मुख नहीं देखा जा सकता। इसी प्रकार जो अन्तरात्मा विषय-कषाय के ताप से उबल रहा हो और इस कारण अस्थिर हो वह आगम के सम्बन्ध में विचार करने का अधिकारी नहीं है। आत्मा स्थिर, निर्मल और शांत होकर विचार करेगा तो स्पष्ट हो जायगा कि आगम प्रमाण के समान दूसरा कोई प्रमाण नहीं है और आगम संदेह से परे है।

महापुरुषों के अनुभव को ही शास्त्र कहते हैं। महापुरुषों ने जो बात बड़े आत्म-भोग से समझी, उनके प्रताप से उस बात का ज्ञान हम सरलता से कर सकते हैं। जैसे खेती करने वाले सब नहीं होते, पर उसका लाभ सबको मिलता है वैसे ही उन महापुरुषों ने आत्मा का पूरा दमन किया होगा: क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों को वश किया होगा, दया की भावना रग-रग में रमाई होगी, परमात्मा में लीन हो गये होंगे, तब शास्त्र फरमाये हैं। ऐसे शास्त्र अपन नहीं प्ररूप सकते, पर उनका उपयोग तो अपन भी कर सकते हैं।

आकाश में गरुड़ पक्षी के बराबर पतंगिया नहीं उड़ सकता, पर उड़ने का अधिकार दोनों को समान है। उसी प्रकार ऊँचे महात्मा लोग शास्त्रों का मंथन कर, जितना लाभ उठा सकते है उतना अपन नहीं, पर फिर भी पतंगियों के माफिक अपने हक को काम में लाना चाहिए। अपने जैसे अल्पज्ञानी जीवों के लिये यदि ये शास्त्र न होते, तो अपने को ऐसे ज्ञान का कुछ भी लाभ न होता।

आप लोग शास्त्र को समझ कर उनके बतलाए हुए मार्ग का अनुसरण करेंगे, तभी आपको उनकी (महात्माओं की) तरह आनन्द मिलेगा।

आगम-प्रमाण (२)

अनुमान को प्रमाण माने बिना काम नहीं चल सकता, इसी प्रकार आगम को भी प्रमाण माने बिना काम नहीं चलता। लोकोत्तर व्यवहार में तो पद पद पर महात्माओं के वचनों की आवश्यकता होती है—उनके वचनों के बिना मुमुक्षु को अज्ञान के अँधेरे में भटकना पड़ेगा. परन्तु लोक-व्यवहार में भी आगम अर्थात् शब्द प्रमाण की आवश्यकता है। मुमुक्षु जीव जिस अपरिचित मार्ग पर आरूढ़ होता है वहाँ पथप्रदर्शक कौन है? आगम के बिना वह किस ओर कदम बढ़ाएगा?

व्यवहार में माता-पिता, बन्धु आदि हितैषी जनों के वचन के अनुसार प्रवृत्ति की जाती है, लेनदेन आदि व्यवहार किया जाता है तो क्या दिव्यज्ञानी महापुरुषों की वाणी मान्य नहीं होनी चाहिए ? अदालत साहूकार की बहियां भी प्रमाण के रूप में स्वीकार करती है; और तुम निस्पृह, परम करुणाशील, संसारोपकारक महात्माओं द्वारा प्ररूपित निर्दोष शास्त्रों को भी स्वीकार न करो तो आप ही अपना अहित करोगे। सूर्य का प्रकाश फैलने पर भी अगर कोई आँख मूँदकर चलेगा तो वही ठोकर खाएगा। इसमें सूर्य का क्या बिगड़ेगा ? महात्माओं की वाणी को प्रमाणभूत न मानोगे तो तुम्हीं हानि उठाओगे।

महापुरुषों का आदर्श

संसार की दशा सुधारने के लिए महापुरुषों ने जो आचरण किया है और उन्होंने जिस पथ पर प्रयाण किया है उस पथ का अनुसरण करने के लिए वे समस्त संसार को आह्वान कर गये हैं। उन्होंने कहा—ऐ जगत् के जीवो ! समय की विचित्रता और विपरीतता के कारण कदाचित् तुम्हारे सामने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जब तुम किंकर्त्तव्य-मूढ़ हो जाओ। तुम्हें यह न सूझ पड़े कि ऐसी-दशा में क्या करें, क्या न करें ? उस समय तुम लोग हमारे आचरण को दृष्टि में रखकर, हम जिस मार्ग पर चले हैं। उस मार्ग पर चलोगे और उस मार्ग को छोड़कर उलटे मार्ग पर नहीं चलोगे तो, तुम्हारा कल्याण होना निश्चित है। इस प्रकार महापुरुष अपने आचरण का आदर्श जगत् के हित के लिए उत्तराधिकार के रूप में छोड़ गये हैं।

निर्मल बुद्धि से कल्याण

जब कोई व्यक्ति अपनी बुद्धि की निरन्तर चौकसी करता रहता है—उसमें विकारों का लेशमात्र भी प्रवेश नहीं होने देता, वरन् भगवान् सुबुद्धिनाथ की शरण ग्रहण करके अपनी बुद्धि को निर्मल बनाये रखता है तभी वह कल्याण का भाजन बनता है। ऐसा करने में कितने ही संकट क्यों न आ पड़ें, अपने पथ से विचलित नहीं होना चाहिए। प्राचीन काल के अनेक उदाहरण ऐसे मौजूद हैं जिनसे पता चलता है कि प्राचीन काल के धर्मात्माओं ने मारणान्तिक कष्ट उपस्थित होने पर भी अपनी बुद्धि में विकारों का प्रवेश नहीं होने दिया था। उन उदाहरणों को सुनकर यह संदेह होता है कि यह कल्पनामात्र है या घटित घटना है ? मगर जब वर्त्तमान में भी किसी को ऐसा करते देखा जाता है तो प्राचीन कथानकों की प्रामाणिकता मुक्तकण्ठ से स्वीकार करनी पड़ती है। हमें यह विश्वास हो जाता है कि पूर्ववर्ती पुरुषों के संबंध में जो कुछ कहा जाता है, वह सर्वांश में सत्य है। उदाहरणार्थ—अहिंसा क्षमा आदि के सम्बन्ध में अतीत वृत्तान्त उपस्थित किये जाते हैं उन्हें सत्य मानने के लिए आज गांधीजी प्रमाण रूप हो जाते हैं।

बालक

किस गृहस्थ को बालक की अभिलाषा नहीं होती ? बालक के बिना घर सूना, लक्ष्मी अनाथ और प्रतिष्ठा लँगड़ी समझी जाती है। पर बालक अगर संस्कारी न हुआ तो माता-पिता की समस्त कामनाएँ मिट्टी में मिल जाती हैं।

बालक को संस्कारी बनाने के लिए माता-पिता को स्वयं संस्कारी बनना चाहिए। जिस बालक से देश, समाज और धर्म का उत्कर्ष सिद्ध न हो, उसका होना, न होना समान-सा है। पर बालक तो अपने माता-पिता का उत्तराधिकारी है। न केवल उनकी धन-दौलत का, मगर उनके सद्गुणों एवं दुर्गुणों का भी वह उत्तराधिकारी है। यह बात अगर माँ-बाप की समझ में आ जाय तो बालक का बहुत कुछ भला हो सकता है।

पारिवारिक

अपने आश्रितों से प्रेमपूर्वक काम लेना एक बात है और उन्हें मार-पीट कर, लाल आँखें दिखा कर काम लेना अलग बात है। प्रेम के साथ काम लेने में स्वामी और सेवक दोनों को संतोष मिलता है और मार मारकर-लाल-लाल आँखें दिखा कर काम लेने में दोनों असंतुष्ट रहते हैं और काम भी यथावत् नहीं होता।

हमेशा डाट-फटकार बताने वाला स्वामी अपने सेवक के शरीर पर कदाचित् अधिकार रख सके, मगर उसकी आत्मा पर अधिकार नहीं जमा सकता।

मुस्लिम-धर्म का कथन है कि जिसके घर में रहने वाले पशु-पक्षी या आश्रित मनुष्य दुःखी होते हैं वह पापी है। अमेरिका में नौकरों के साथ कुटुम्बी जन के समान व्यवहार किया जाता है, तब आप लोग, आर्य देश के निवासी उनके प्रति कैसा व्यवहार करते हैं ?

समभाव

जैसे सैनिक बन्दूक या तीर का निशाना लगाना एक ही साथ नहीं सीख लेता, पर सावधान होकर, एकाग्र भाव से अभ्यास करता है, इसी प्रकार जीवनसिद्धि का लक्ष्य सिद्ध करने के लिए समभाव का अभ्यास करते रहना चाहिए। सैनिक अभ्यास करते समय बहुत बार निशाना चूक जाता है, फिर भी उसका लक्ष्य तो निशाना साधना ही होता है। इसी प्रकार समभाव को अगर जीवन में सहसा न उतारा जा सके तब भी लक्ष्य तो वही होना चाहिए और उसके लिए साधना भी करते रहना चाहिए। निरन्तर के अभ्यास से एक दिन आयगा जब सच्ची सामायिक भी हो सकेगी और जीवन समभावमय बन सकेगा।

सामायिक के समय अगर कोई पुरुष गाली देता है और सामायिक करने वाला उस पर क्रोध नहीं करता तो समझना चाहिए कि अब निशाना थोड़ा-बहुत लगने लगा है।

प्रकृति की पाठशाला

प्रकृति की पाठशाला में जो संस्कारमय बोध प्राप्त होता है वह कॉलेज या हाईस्कूल में नहीं मिल सकता। जो महापुरुष जगत् के कोलाहल से हटकर जङ्गल में रहकर प्रकृति से शिक्षा लेते हैं, वे धन्य हैं। उन्हीं से सभ्यता का निर्माण होता है। भारतीय संस्कृति नगरों में नहीं, वनों में ही उत्पन्न हुई और सुरक्षित रही है।

प्रकृति से शिक्षा

मघा ने प्रकृति से यह पाठ सीखा था कि जो बात मुझे अनुकूल हो वही दूसरों के लिए करनी चाहिए। भूतकाल और वर्तमान काल के अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रकृति की पाठशाला में जैसी सजीव शिक्षा मिल सकती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती। ज्ञानियों ने विश्व को पुरुषाकार बतलाया है। अगर पुरुष की आकृति वाले इस विश्व का ध्यान किया जाय तो आत्मा को अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है।

प्रकृति के रहस्य का सूक्ष्म-निरीक्षण किया जाय तो उसमें से आत्मा अपूर्व शिक्षा ग्रहण कर सकता है। छोटी-सी पांखुड़ी में कौन-सा तत्व समाया हुआ है, उसकी इस प्रकार की रचना है और उससे हम क्या सीख सकते हैं, इस प्रकार यदि गहरा विचार किया जाय तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहेगा।

बड़े-बड़े कुशल कारीगर विशाल और सुन्दर प्रासाद के निर्माण में जिस कौशल को अभिव्यक्त करते हैं उनका यह कौशल भी फूल की पांखुड़ी की रचना की रमणीयता के सामने पानी भरता है।
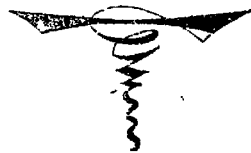
१६

आत्मनिवेदन और क्षमायाचना

आत्म-निवेदन

आत्मनिवेदन

तुम लोग मेरी प्रशंसा करते हो, पर प्रशंसा का यह भार मेरे लिए असह्य हो रहा है। वास्तव में मैं शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि से अभी तक बहुत दूर हूँ। ज्ञान मेरा अपूर्ण है। केवल गुरु-चरणों के प्रताप से जो वस्तु मुझे विरासत में मिली है वही तुम्हें सुना देता हूँ और उसीसे सब की आत्मा को संतुष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ।

जो बात सुनाने में मुझ से भूल होती हो या जिस बात को तुम्हारी आत्मा कबूल न करती हो, उसे त्याग सकते हो और जो तुम्हें उपयोगी एवं हितकर प्रतीत हो उसे ग्रहण कर सकते हो।

× × × ×

सत्य को ग्रहण करो। असत्य को त्याग दो। मैंने अपने गुरु से जो कुछ प्राप्त किया है उसका पूर्ण रूप से पालन भी अब तक मुझ से नहीं बन पड़ा है। अभी तक मुझ में बहुत अपूर्णता है। अपनी अपूर्णता मिटाने के लिए ही मैं भगवान् की प्रार्थना करता हूँ।

जैसे हंस मोती चुगता है उसी प्रकार मेरे कथन में से अच्छाई छाँट कर ग्रहण कर लो। समुद्र में अनेक तरंगें आती हैं पर सभी तरंगों में मोती नहीं होते। फिर भी मोती चुगने वाला हंस उन्हीं तरंगों में से मोती खोज लेता है। तुम भी हंस की भाँति विवेक से काम लो और मोती जैसी अच्छी बातें स्वीकार कर लो और शेष अंश को त्याग दो।

मैं स्वयं भी हंसवृत्ति प्राप्त करने की कामना करता हूँ। मुझे बहुसंख्यक मनुष्यों के परिचय में आना पड़ता है। मेरी हार्दिक कामना है कि मुझ में वह शक्ति आ जाय कि मैं उन सब के मोती के समान सद्गुण ग्रहण कर लूँ।

क्षमापणा

जैन परम्परा में चौरासी लाख जीवयोनियों से 'खमाने' की परंपरा चालू है; पर जहाँ विरोध उत्पन्न हुआ हो वहां क्षमा-याचना करना ही सच्ची क्षमा है। दूसरे का दिल दुखाया हो अथवा उसके दिल में कलुषता उत्पन्न की हो, अथवा दूसरों की ओर से अपने दिल में मलीनता उत्पन्न हुई हो तो उस विरोध या कलु-

षता को क्षमा के आदान-प्रदान द्वारा शान्त कर देना ही सच्ची क्षमापणा है। एकेन्द्रिय जीवों या द्वीन्द्रिय जीवों की ओर से तुम्हें कोई संताप हुआ हो तो उसे भूल जाना और हृदय में इस संबंध की कोई कलुषता न रहने देना, और अपने हृदय को पूरी तरह निर्वैर बना लेना क्षमापणा का उद्देश्य है।

विश्व के समस्त प्राणियों पर निर्वैरभाव रखना और विश्वमैत्री-भावना विकसित करना क्षमापणा का महान् आदर्श और उद्देश्य है। मनुष्य के साथ मनुष्य का संबंध अधिक रहता है अतएव मनुष्यों के प्रति निर्वैरवृत्ति धारण करने के लिए सर्वप्रथम अपने घर के लोगों के साथ, अगर उनके द्वारा कलुषता उत्पन्न हुई हो या उनके चित्त में कलुषता हुई हो तो क्षमा का आदान-प्रदान करके विश्व-मैत्री का शुभ समारंभ करना चाहिए।

क्षमा का आदान-प्रदान करने से चित्त में प्रसन्नता होती है। चित्त की प्रसन्नता से भाव की विशुद्धि होती है।

क्षमापणा प्रायः हमेशा की जाती है। प्रतिक्रमण के पश्चात् क्षमापणा करने की प्रथा है। पर यह देखना आवश्यक है कि उस क्षमा का उद्गम स्थान कहाँ है? वह अन्तःकरण से उद्गत हुई है या जिह्वा से? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि प्रतिक्रमण करके उपाश्रय में भाई के साथ क्षमापणा करते हो और बाहर निकलते ही भाई के खिलाफ कोर्ट के किवाड़ खटखटाते हो? पहले का वैरभाव चालू तो नहीं रखते? अगर इस तरह बाहर से क्षमाभाव प्रदर्शित करो और भीतर वैरभाव चालू रक्खो तो यह सच्ची क्षमापणा नहीं है। सच्ची क्षमापणा कर लेने के पश्चात् पारस्परिक वैमनस्य या झगड़ा चालू नहीं रह सकता। सच्चे हृदय से क्षमापणा करने वाला कहेगा—'तुम्हारे और मेरे बीच मुकद्दमा नहीं चल सकता। अब तुम्हारी इच्छा हो तो मेरा देना दे जाना, नहीं तो तुम्हारी इच्छा। तुम्हारे प्रति मुझे तनिक भी वैरभाव नहीं है। अब तुम मेरे मित्र हो। सच्चा सम्यग्दृष्टि इस प्रकार की क्षमापणा करता है।

अपनी ओर से क्षमापणा

उत्तमक्षमा धर्म की आराधना करने वाला सम्यग्दृष्टि इस बात का विचार नहीं करता कि दूसरे मुझ से क्षमायाचना करते हैं या नहीं! इस बात का विचार किये बिना ही वह अपनी ओर से विनतभाव से प्रेरित होकर क्षमा की प्रार्थना करता है। इस विषय में बृहत्कल्पसूत्र के शब्द स्मरणीय हैं। उसमें कहा है—

'जिसके साथ तुम्हारी तकरार हुई है, वह तुम्हारा आदर करे या न करे। उसकी इच्छा हो तो वंदन करे, इच्छा न हो तो वंदन न करे। उसकी इच्छा हो तो तुम्हारे साथ भोजन करे, इच्छा न हो तो न करे। उसकी इच्छा हो तो तुम्हारे साथ रहे, इच्छा न हो तो न रहे। उसकी इच्छा हो तुम्हारे प्रति उपशान्त हो, इच्छा न हो तो उपशान्त न हो, तुम उसके इन कृत्यों को मत देखो। तुम अपने अपराध लिए क्षमा मांग लो और उसके अपराधों के लिए अपनी ओर से क्षमा कर दो।'

अन्त में, मै अपनी भूलों के लिए तुम से क्षमा-याचना करता हूँ। मेरी हार्दिक भावना है कि तुम सब का कल्याण हो और तुम मेरे शरीर से नहीं, वरन् मेरे सद्विचारों से प्रेम करो।

समाप्त